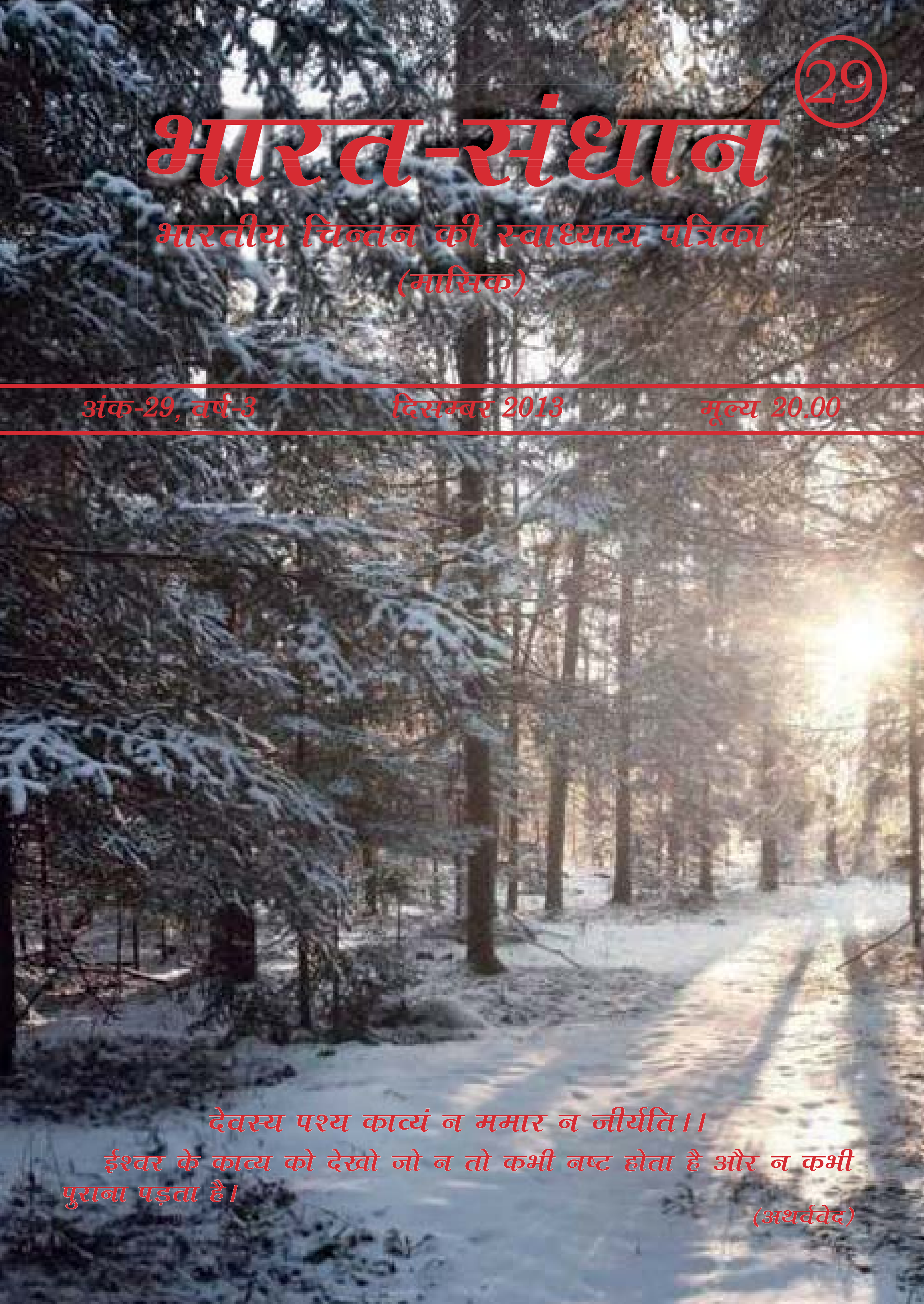

29

भारत-संधान

भारतीय चिन्तन की स्वाध्याय पत्रिका

(मासिक)

अंक-29, वर्ष-3 दिसम्बर 2013 मूल्य 20.00

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।।

ईश्वर के काव्य को देखो जो न तो कभी नष्ट होता है और न कभी पुराना पड़ता है।

(अथर्ववेद)

पंथ-निरपेक्षता का अर्थ यह नहीं हो सकता है कि भारत के लोग अपनी धार्मिक विरासत को भूल जाएँ। और चूँकि अधिकतर संख्या में भारतीय हिन्दू हैं, इसलिए आधुनिक युग के संदर्भ में हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हिन्दू धर्म की बड़ी शक्ति यह रही है कि यह धर्म किसी धर्मग्रंथ की बजाय प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित है, और चूँकि इसमें कोई कट्टर पुरोहितवादी ढाँचा नहीं है इसलिए इसकी रचनात्मक पुनर्व्याख्या करना हमेशा संभव रहा है।

डा. कर्ण सिंह, पृ. 6

हम देखते हैं कि युद्ध की व्याख्या से युद्ध नहीं रुकता। ऐसे असंख्य इतिहासकार, धर्मशास्त्री और धार्मिक लोग हैं, जो इसकी व्याख्या कर रहे हैं कि युद्ध क्यों और कैसे होते हैं, परंतु युद्ध फिर भी जारी हैं और शायद पहले से अधिक विध्वंसकारी रूप में। हममें से जो वास्तव में इस समस्या को लेकर गंभीर हैं, उन्हें शब्दों से परे जाना होगा और अपने ही भीतर एक मौलिक क्रान्ति की खोज करनी होगी। केवल यही वह उपाय है जिससे मानवता का स्थायी एवं मौलिक रूप से उद्धार हो सकता है।

जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 9

जब आप शाब्दिक, ऐन्द्रिय या मानसिक स्तर पर असंयम में जाते हैं तब आपकी अंतरात्मा आपसे कहती है कि अब आप उल्लंघन कर रहे हैं। वह कहती है, आप जो कर रहे हैं वह अनुचित है, आप संयम खो रहे हैं। वह आपके अंदर वह यम का कथन होता है, वह एक स्वाभाविक संयम शक्ति की हल्की-सी आवाज होती है। क्या हम अंतरात्मा की उस आवाज की उपेक्षा नहीं करते? आपकी एवं मेरी अंतरात्मा के मूल नियामक तत्त्व के सिवाय यम और कुछ नहीं है।

विमला ठकार, पृ. 12

जिसके पास रुपया है उसका अधिकार उस पर चलता है जिसके पास उतना रुपया नहीं होता। अगर किसी आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपके पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहाँ गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाए रखना होगा।

जॉन रस्किन, पृ. 15

The recent progress in physical science leads to a continuous emancipation from the purely human point of view. Our last impression of nature, before we began to take our human spectacles off, was of an ocean of mechanism surrounding us on all sides. As we gradually discard our spectacles, we see mechanical concepts continually giving place to mental. If from the nature of things we can never discard them entirely, we may yet conjecture that the effect of doing so would be the total disappearance of matter and mechanism, mind reigning supreme and alone.

Sir James Jeans, p. 37

भारत-संधान

भारतीय चिन्तन की मासिक स्वाध्याय-पत्रिका

अंक-29 दिसम्बर 2013

सम्पादकीयः मानविकी और सामाजिक विज्ञान में शिक्षा		2
धर्म आज	डा. कर्ण सिंह	6
स्वयं से छलावा	जे. कृष्णमूर्ति	9
जीवन में सयंम ही यम है	विमला ठकार	12
सर्वोदय	जॉन रस्किन	15
मानविकी में उच्चशिक्षा और अनुसंधान (साक्षात्कार)	प्रो. अपूर्वानन्द	19
आत्मजयी से कुछ अंश-3	कुँवर नारायण	25
वाक्यपदीयः भर्तृहरि का भाषा-दर्शन-29	अनिल विद्यालंकार	29
वैदिक प्रेरणाएँ-1	"	32
Indian Values need not to be changed	Sadhvi Bhagwati Saraswati	34
The Search for Ultimate Reality	Sir James Jeans	37
संस्कृत पाठ-31	अनिल विद्यालंकार	41
प्रश्न-चर्चा		46

सम्पादकः अनिल विद्यालंकार

सहायक सम्पादकः राकेश नवीन

❖सम्पादन सहयोगः महेन्द्र कुमार शर्मा, सौम्या शर्मा

❖ रूपांकनः संजय कुमार

यह पत्रिका शिक्षित भारतीय बनने में आपकी सहायता कर सकती है।

जे-56 साकेत, नई दिल्ली-110017, फोनः 011-41764317

ई-मेलः sandhaan@airtelmail.in, anilvid@bharatsandhaan.org,

पत्रिका के पिछले अंक देखने के लिए आप हमारी वेबसाईट www.bharatsandhaan.org पर लॉगइन कर सकते हैं।

सम्पादकीय

मानविकी और सामाजिक विज्ञान में शिक्षा

पत्रिका के पिछले अंक में हमने *विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के लिए कुछ विचारणीय बिंदु* शीर्षक से कुछ विचार रखे थे। संक्षेप में, हमारा कथन था—

- जब से यूजीसी ने महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्यापन कर सकने के लिए पीएच.डी. की डिग्री अनिवार्य कर दी है तब से इस डिग्री को पाने के लिए शोधार्थियों की बाढ़ आ गई है।
- अनुसंधान का तात्पर्य कोई नया तथ्य ज्ञात करना या पहले से ज्ञात तथ्यों के बीच नये संबंधों की खोज करना है। इसलिए जहाँ अनुसंधान हो सकता है वहाँ जितना अधिक अनुसंधान हो उतना अच्छा है। आजकल के विकास के युग में हर देश में नये-नये अनुसंधान करने की दौड़ है। कौन कितने अनुसंधान करके उनपर पेटेंट प्राप्त करता है यह विकसित देशों में उस देश की बौद्धिक प्रगति का पैमाना बन गया है। और ऐसा होना स्वाभाविक भी है।
- पर यह समझना बहुत ज़रूरी है कि सभी क्षेत्रों में अनुसंधान नहीं हो सकता। अनुसंधान करने की इस अंधी दौड़ में उन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर अनुसंधान करने की कोशिश हो रही है जहाँ अनुसंधान किसी भी हालत में नहीं हो सकता। इसमें मनुष्य के आंतरिक जीवन का समूचा क्षेत्र सम्मिलित है जो सामान्यतया मानविकी के अंतर्गत आता है। सामाजिक विज्ञान भी मानविकी से ही निकले हैं और मानविकी की प्रकृति और सीमाएँ उनपर पूरी तरह लागू होती हैं। इसलिए सामाजिक विज्ञानों में, जिनमें इतिहास भी सम्मिलित है, सूचनाओं को एकत्रित करके उनकी व्याख्या करने की कोशिश की जा सकती है, पर सर्वसम्मत अनुसंधान उनमें सर्वथा असंभव है।
- विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में शब्दों का अर्थ निश्चित है। वास्तव में इन क्षेत्रों में अनुसंधान और उसके आधार पर प्रगति संभव ही इसलिए हुई कि उस क्षेत्र के शब्दों का अर्थ संख्या के आधार पर निश्चित किया जा सका। इन क्षेत्रों में हर व्यक्ति जानता है कि दूसरा क्या कह रहा है और कर रहा है, और वह स्वयं भी अपने शब्दों को बार-बार उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त कर सकता है। यदि आज किसी ज्योतिर्विद् ने किसी तारे में किसी तत्त्व की खोज की है तो वह कल उसी तारे के उसी तत्त्व के बारे में अकेले या अपने सहयोगियों के साथ आगे काम कर सकता है।
- इसके विपरीत, मानविकी और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में शब्दों के अर्थ निश्चित नहीं हैं। उनके शब्दों का अर्थ हर व्यक्ति अपनी शिक्षा, परंपरा, धर्म, राजनैतिक प्रतिबद्धता आदि के आधार पर लगाता है। किस रचना को अच्छी कविता कहा जाएगा, या किस प्रकार की विचारधारा समाजवाद कहलाएगी या धर्मनिरपेक्षता किसे कहेंगे इसके लिए कोई निश्चित कसौटी नहीं है। इसलिए इन क्षेत्रों में मतभेद की बहुत गुंजाइश होती है और वह सदा रहेगी।
- इस दृष्टि से आवश्यक है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग सुनिश्चित करे कि मानविकी और सामाजिक विज्ञान में उच्च शिक्षा का अर्थ क्या है, किन क्षेत्रों में वास्तव में अनुसंधान हो सकता है जो सर्वमान्य और सामाजिक रूप से उपयोगी हो, और तब उन क्षेत्रों

में आर्थिक सहायता करे। पीएच.डी. की डिग्री के लिए युवाओं के समय का उपयोग इस प्रकार किया जाए कि अपने जीवन के सबसे बहुमूल्य वर्षों में वे वास्तव में कुछ सीखें जिससे उनकी मेधा का विकास हो सके।

हम यह भूल जाते हैं कि वर्तमान संसार में इस समय चल रही विश्वविद्यालय व्यवस्था केवल कुछ सौ वर्ष पुरानी है। भारत में तो इस प्रकार के विश्वविद्यालयों को स्थापित हुए दो सौ वर्ष से भी कम हुए हैं। इस व्यवस्था में विद्यार्थियों को एक निश्चित अवधि तक शिक्षा देने के बाद उन्हें बी.ए., एम.ए. आदि की डिग्री दी जाती है, और किसी विशेष क्षेत्र में अनुसंधान करने के बाद उन्हे पीएच.डी की डिग्री मिलती है। इस व्यवस्था में तंत्र प्रधान है, विद्यार्थियों के मानस में चल रही शिक्षा की प्रक्रिया गौण।

इस प्रक्रिया के चलते विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विद्यार्थी अवश्य कुछ जानकारी प्राप्त करते हैं। वे जानते हैं कि उन्हें क्या जानना और सीखना है जिसके लिए वे शिक्षा-संस्था के बाहर भी प्रायः प्रयास करते हैं। विज्ञान, तकनीकी, चिकित्सा आदि के क्षेत्रों में चल रहे कोचिंग केंद्र इस बात के प्रमाण हैं कि विद्यार्थी जानता है कि उसे क्या करना है और उस दिशा में वह कितनी प्रगति कर रहा है। यदि उसके क्षेत्र में कोई नया अनुसंधान हुआ है तो वह जल्दी ही उसके पाठ्यक्रम में शामिल हो जाता है। इस प्रकार प्रारंभ से अंत तक यथार्थता के वातावरण में काम होता है। दूसरों को धोखा दे सकना आसान नहीं होता। छल की बात देर-सबेर पकड़ ली जाती है।

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विद्यार्थी जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसके आधार पर उनकी योग्यता के अनुसार न केवल उन्हें रोज़गार मिलता है अपितु आगे काम करने की सुविधा भी मिल सकती है। उनके नियोक्ता उनके काम को देखकर उन्हें कई तरीकों से प्रोत्साहित कर सकते हैं। न केवल उस क्षेत्र विशेष के व्यक्तियों को अपितु आम जनता को भी पता चलता रहता है कि किसी क्षेत्र में क्या प्रगति हो रही है। क्या भारत मंगल ग्रह तक अपना यान भेजने में सफल हो रहा है, एड्स, कैंसर आदि रोगों के इलाज में क्या प्रगति हुई है, हमारी रेलगाड़ियाँ कितनी गति से दौड़ रही हैं और कितनी सुरक्षित हैं, आदि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र सबके लिए खुले हैं और जानकार लोग उनपर सार्थक चर्चा कर सकते हैं। इस क्षेत्र में अध्ययन और अनुसंधान के नाम पर खर्च किए गए पैसे के औचित्य और अनौचित्य पर सार्थक विचार हो सकता है।

जब कोई उच्चस्तरीय वैज्ञानिक अपनी गहन खोज में लगा हो तो उस समय वह समाज से कटा हो सकता है, पर उसके अनुसंधान की समाप्ति पर उसके कार्य की परिणति समाज के सामने आती है और उसकी सत्यता या असत्यता पर चर्चा होती है। दूसरे शब्दों में विज्ञान का संबंध समाज से सदा बना रहता है।

दूसरी ओर मानविकी और सामाजिक विज्ञान के विषय अधिकतर समाज से कटे रहते हैं। साहित्य मानविकी का एक मुख्य विषय है। यदि आज महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के वातावरण को देखें तो हम पाते हैं कि वहाँ साहित्य एक स्वायत्त, स्व-सीमित और स्व-केंद्रित विषय बन गया है। मानो साहित्य केवल साहित्य के लिए है। साहित्य में अनुसंधान के नाम पर जो हो रहा है उसमें बहुत बड़ा अंश सर्वथा निरर्थक है इस बात पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

पिछली शताब्दी में एल्डस हक्सले एक प्रमुख बुद्धिवादी थे। वे डी.एच. लारेंस के मित्र और प्रशंसक थे। एक बार लारेंस के बारे में रिसर्च कर रहे कुछ विश्वविद्यालयी विद्वान हक्सले से लारेंस के लेखन के बारे में चर्चा करने आए। चर्चा लंबी चली। उन विद्वानों के जाने के बाद हक्सले ने कहा, "वे जो कह रहे थे उसका एक शब्द भी मेरी समझ में नहीं आया।" हक्सले इस प्रकार के विद्वानों के कार्य को learned foolery कहते थे जिसमें उद्देश्य बस यह सिद्ध करना होता है कि कब किसने किसे क्या कहने के लिए प्रभावित किया—"Who influenced whom to say what when." हमारे समाज में ऐसे विद्वान मूर्खों की बड़ी संख्या है और वह संख्या बढ़ती ही जा रही है। जब शिक्षा का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में आ जाता है तो शिक्षा का भविष्य निराशाजनक ही हो सकता है।

साहित्य के अध्ययन का अपना आनंद है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर हम यहाँ पर चर्चा साहित्य या अन्य मानविकी के विषयों के सामाजिक परिप्रेक्ष्य के बारे में कर रहे हैं जहाँ शोधार्थी, बहुत बार करदाता के पैसे के सहारे, कुछ ऐसा करने का प्रयास करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र को आगे बढ़ाए और जिसके विषय में कहा जा सके कि उसमें समय, ऊर्जा और धन का यथासंभव सदुपयोग हुआ है।

हमारे वर्तमान अकादमिक वातावरण में ऐसा नहीं हो रहा। ज्ञान को बढ़ाना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। पर हर व्यक्ति ज्ञानवर्धन करने में लिए समर्थ नहीं हो सकता। सभी की अपनी-अपनी बौद्धिक सीमाएँ हैं, यह हमें स्वीकार करना चाहिए। एम.ए. पास कर लेने के बाद हज़ारों छात्र साहित्य के क्षेत्र में ज्ञानवर्धन के लिए शोध कर सकेंगे ऐसा मानना उन युवा छात्रों के साथ और उस करदाता के साथ, जिसके पैसे से शोध की जा रही है, अन्याय है। यदि ये ही युवा अपने विषय से संबद्ध अन्य क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त कर कालेजों और विश्वविद्यालयों में अध्यापन करें तो पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले दोनों के ही दिमाग खुलेंगे। वे जीवन को अधिक अच्छी प्रकार समझ सकेंगे जोकि मानविकी और सामाजिक विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है।

पर आज ऐसा नहीं हो रहा। बात करने के लिए बातें निकाली जा रही हैं जिन्हें भारीभरकम शब्द पहनाकर गंभीर विद्वत्ता का वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है। नये-नये सिद्धांत निकाले जाते हैं जो कुछ समय फैशन में रहकर विस्मृत हो जाते हैं। ये सभी सिद्धांत विदेश से आयात किए जाते हैं यह अलग से विचारणीय है। पिछले समय में साहित्य में साम्यवाद तो व्यापक रूप से प्रचलित था ही, उसके प्रभाव में प्रगतिवाद के आंदोलन का चलना भी बहुत स्वाभाविक था। बहुत वर्ष तक फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव साहित्य पर रहा। फिर अस्तित्ववाद आया और कुछ समय तक भारतीय साहित्य के आकाश में भी छाया रहा। आधुनिकता वाद तो सहज ही था, अब उत्तर-आधुनिकता वाद का नारा चल रहा है। सदा एक नये नारे की जैसे प्रतीक्षा रहती है। उन नारों के पीछे छिपी मानवीय अनुभूतियों को गंभीरता से पहचानने की न तो इच्छा है, न शायद उसकी योग्यता ही शेष रही है।

यदि सामाजिक विज्ञान के अध्ययन को वास्तव में समाज से जोड़ने का प्रयास किया जाता है तो इन क्षेत्रों के विशेषज्ञ उसे अपने अधिकार-क्षेत्र में दखल मानते हैं। बहुत पहले एनसीईआरटी में प्रस्ताव आया था कि उच्चमाध्यमिक विद्यालयों में राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र पढ़ाते हुए छात्रों से उस क्षेत्र में कुछ क्रियात्मक कार्य करने के लिए भी कहा जाए। उदाहरण के लिए, नौवीं-दसवीं कक्षा के छात्र अपने क्षेत्र में नगर पार्षद और विधायकों से बातचीत करें और अध्ययन करें कि उन लोगों को जनहित के सामाजिक कार्य के लिए सार्वजनिक कोष से दिया जा रहा पैसा वे किस प्रकार खर्च कर रहे हैं। वे देखें कि गाँव की पंचायत और नगरपालिका का कार्य किस प्रकार चल रहा है। एनसीईआरटी के विशेषज्ञों ने कहा कि राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र के अध्ययन में ये बातें शामिल नहीं हो सकतीं। समाज को समझने के लिए बनाए गए विषयों में जो बात शामिल है वह है समाज से अलग हटकर समाज के बारे में सैद्धान्तिक बात करना। उस बात को करते समय समाज का शोर उसके बीच नहीं आना चाहिए।

पिछले कुछ दिनों से राजनीति और समाजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. योगेंद्र यादव एक राजनैतिक दल के सलाहकार के रूप में राजनीति में सक्रिय हैं। वे जो कह या कर रहे हैं उसके बारे में चर्चा करने का यहाँ अवकाश नहीं है। पर विचारणीय यह है कि वे जो कर रहे हैं वह क्या उनके राजनीति और समाजशास्त्र के विषय से संबद्ध नहीं है? उस राकेटशास्त्री को हम क्या कहेंगे जो राकेट छोड़े जाने के समय भी यह देखना नहीं चाहता कि राकेट-निर्माण के जिन सिद्धांतो को वह पढ़ता और पढ़ाता है उनके आधार पर बनाए गए राकेट काम भी कर रहे हैं या नहीं। पर आज हमारे विश्वविद्यालयों के मानविकी और समाजशास्त्र के विद्वान जीते-जागते मानव और चारों ओर फैले समाज से सर्वथा कटकर उनके बारे में लगभग शून्य में विचार कर रहे हैं।

धर्म में ऐसा होता है। हज़ारों वर्ष से ईश्वर के बारे में बात होती आ रही है। धर्मगुरु अपने-अपने पवित्र ग्रंथों की मान्यताओं को दोहराते रहते हैं। ईश्वर वास्तव में है या नहीं यह जानने की उनमें इच्छा नहीं होती। और न यह देखने की चिन्ता ही होती है कि उन धर्मों के बताए मार्ग पर चलने से किसी को ईश्वर मिला भी है या नहीं। इतिहास बताता है कि संसार का कोई भी संगठित धर्म आज तक एक भी व्यक्ति को ईश्वर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं हुआ है। पर धर्म एक व्यवसाय बन गया है जिसे चलाने में लाखों लोगों के निहित स्वार्थ हैं। जब तक ये स्वार्थ पूरे होते रहेंगे धर्म चलता रहेगा।

कार्ल मार्क्स ने धर्म को जनसमुदाय की अफीम कहा था। आज हमारे विश्वविद्यालयों में शाब्दिक अफीम का अच्छा-खासा प्रयोग हो रहा है। और इस अफीम का खर्चा गरीब करदाता उठा रहा है।

धर्म चल रहे हैं क्योंकि जिन शब्दों में उनकी बात की जा रही है उनके अर्थ निश्चित नहीं हैं, पर वे मनुष्य की सघन अनुभूतियों से जुड़े हुए हैं, इसलिए उन्हों छोड़ा

भी नहीं जा सकता। कुछ ऐसी ही जकड़ मानविकी और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में हो गई है। एक सर्वथा कृत्रिम वातावरण में स्व-निर्मित समस्याओं पर चर्चा हो रही है। शब्दों में से शब्द निकलते हैं और शब्दों का मकड़-जाल फैलता जा रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं कि मानविकी और सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र अनुपयोगी है और उसमें शिक्षा देना या पाना निरर्थक है। मनुष्य का जीवन वैज्ञानिक या तकनीकी जानकारी के आधार पर नहीं चलता। उस जानकारी से जीवन में केवल सुविधा आ सकती है, जीवन की दिशा तय नहीं होती। मनुष्य का जीवन अनुभूतियों और मतों के आधार पर चलता है। मानविकी के क्षेत्र में शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को स्वयं अपने आपको समझने और उस समझ के आधार पर अपने समाज को समझने में और उसे सुधारने में सहायता देना होना चाहिए। इसके लिए शिक्षा की प्रक्रिया में व्यापक दृष्टि और धैर्य की आवश्यकता होती है। केवल शब्दों को रटा देने से, भले ही वे शब्द बड़े-बड़े विद्वानों के हों, सीखनेवाले की समझ में कोई वृद्धि नहीं होती। बुद्ध के शब्दों में वह दूसरों का बोझा उठानेवाला पशु ही बन जाता है।

सही मानसिक विकास के लिए शिक्षा-व्यवस्था को प्रारंभ से ही प्रयास करना चाहिए। प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों को भी यह समझाना मुश्किल नहीं है कि भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ हम अपने-अपने ढंग से लगाते हैं, उनके अर्थ के बारे में सहमति नहीं हो सकती। छोटे बच्चे भी कुछ फूलों में सबसे बड़ा फूल कौन-सा है और कौन-सा सबसे सुंदर है पूछे जाने पर आसानी से जान सकते हैं कि *बड़ा* और *सुंदर* शब्द अलग-अलग प्रकार के हैं। बड़ा होने को मापकर सहमति बनाई जा सकता है, सुंदर को नहीं। यदि यह बात उन्हें बचपन से सिखाई जाए तो वे आगे चलकर भारत का कौन-सा प्रधानमंत्री सबसे अच्छा था या किस कवि का साहित्य में कौन-सा स्थान है जैसी बेकार बातों में अपना समय बर्बाद नहीं करेंगे। साहित्य पढ़ते हुए वे साहित्य का आनंद लेंगे और उसके माध्यम से जीवन को समझने की कोशिश करेंगे। साहित्य के विश्लेषण और उसकी समीक्षा को वे महत्त्व नहीं देंगे।

पर विश्वविद्यालय स्तर पर ऐसे ही कामों में समय, ऊर्जा और धन बर्बाद हो रहा है। मत आधारित क्षेत्रों को ऐसे देखा जा रहा है मानो वे सीधे-सीधे तथ्यों से जुड़े हों।

मनुष्य जाति द्वारा प्राप्त ज्ञान को दो महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है: जीवन और जगत्। आजकल की शब्दावली में इन्हें मानविकी और विज्ञान के क्षेत्र कहा जा सकता है। मानविकी का तात्पर्य हुआ मनुष्य से संबंधित क्षेत्र। जबसे मनुष्य ने होश सम्हाला है वह अपने बारे में जिज्ञासा करता रहा है। इसी जिज्ञासा में आत्मा, परमात्मा और धर्म से संबंधित प्रश्न उसके मन में उठे हैं। इनसे संबंधित चर्चा को संगृहीत किए जाने पर धर्म, दर्शन, अध्यात्म, साधना आदि के क्षेत्रों का विकास हुआ।

जगत् से संबंधित ज्ञान सब मनुष्यों के लिए समान है क्योंकि वह तथ्यों पर आधारित है। वहाँ सब मिलकर एक ही बात पर सहमत हो सकते हैं। दूसरी ओर, आंतरिक जीवन में हर मनुष्य अकेला है। जैसे बच्चे अपरिचित अँधेरे कमरे में जाने से डरते हैं, बिल्कुल वैसे ही मनुष्य अपने अंदर जाने से डरता है। इसलिए स्वयं उसके अपने बारे में जो कुछ उसके गुरु या धर्मनेता बता देते हैं उसे वह मान लेता है। उसकी अपनी शारीरिक और सामाजिक इच्छाएँ भी हैं जिन्हें वह पूरा करना चाहता है पर वैसा करने में बहुत बार अपने को असहाय पाता है। समाज ऐसे मनुष्यों के समवाय से बना है जो अंदर से बहुत निर्बल महसूस करते हैं। ऐसे मनुष्यों के समाज को धार्मिक और राजनैतिक नेता आसानी से बहका सकते हैं।

मानविकी और सामाजिक विज्ञान का उद्देश्य स्वयं को समझने में मनुष्य की सहायता करना होना चाहिए। स्वयं को समझने के बाद ही वह समाज को समझ सकेगा क्योंकि समाज उस जैसे मनुष्यों का ही समवाय है।

विज्ञान के द्वारा बाहरी जगत् के बारे में हमारी जानकारी निरंतर बढ़ती जा रही है यद्यपि कुछ उच्चतम वैज्ञानिक मानते हैं कि विज्ञान के द्वारा हम सृष्टि के और स्वयं अपने अस्तित्व के रहस्य को नहीं जान सकेंगे। साथ ही, मनुष्य की अपने बारे में जिज्ञासा प्रबल होती जा रही है। "मैं कौन हूँ?" यह प्रश्न यदि प्राचीनों के लिए महत्त्वपूर्ण था तो यही प्रश्न प्रसिद्ध भौतिकीविद् एर्विन श्रडिंगर के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार तो विज्ञान का सबसे प्रमुख उद्देश्य ही यह पता करना है कि हम कौन हैं।

मनुष्य के आंतरिक जीवन में कोई विभाजन नहीं है। समाज को समझने के लिए भी उस आंतरिक जीवन को समझना आवश्यक है। मानविकी के सभी क्षेत्र हमें अपने आपको और इस प्रकार अपने समाज को समझने में सहायता कर सकते हैं। यही उनका वास्तविक उद्देश्य है।●

डा. कर्ण सिंह (जन्म 1932) भारत के एक राजनेता होने के साथ-साथ प्रमुख बुद्धिजीवी भी हैं। 18 वर्ष की छोटी अवस्था में ही उन्हें जम्मू और कश्मीर के सदरे रियासत का कार्यभार सम्हालना पड़ा पर उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी। दिल्ली विश्वविद्यालय से उन्होंने राजनीति विज्ञान से एम.ए. और श्री अरविंद के दर्शन पर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। अनेक भाषाओं पर उनका अधिकार है। वे अच्छे संगीतज्ञ भी है।

केंद्रीय सरकार में कई बार मंत्री रह चुके डा. कर्ण सिंह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय विचार धारा को प्रचारित करने में मुख्य भूमिका निभाते रहे हैं। उनका विश्वास है कि विज्ञान और धर्म में समन्वय न केवल संभव है अपितु आजकल के विश्व की अवस्था को देखते हुए बहुत आवश्यक भी है। इसके लिए वे वेदांत के आधार पर अनेक वैज्ञानिकों से चर्चा करते रहे हैं। यहाँ प्रस्तुत लेख भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित डा. कर्ण सिंह की पुस्तक *हिंदू दर्शनः एक समकालीन दृष्टि* से लिया गया है।

धर्म आज

डा. कर्ण सिंह

आज संसार के प्रत्येक बड़े धर्म के सामने भारी संकट है। और यह संकट किसी और धर्म के द्वारा उत्पीड़न से नहीं पैदा हुआ है, न ही यह साम्यवाद के खतरे के कारण पैदा हुआ है। साम्यवाद में स्वयं भी धर्म के अनेक लक्षण विकसित कर लिए गए हैं—उसके अपने पूज्य ग्रंथ और अपना ही पुरोहित वर्ग है जो स्वयं को अजेय मानता है। यह संकट वस्तुतः आधुनिक जीवन पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है जिसने हमारे संसार को हमारे देखते-देखते बदल दिया है। पुरातन का पतन हो रहा है, नवीन जन्म लेने के लिए छटपटा रहा है, और हम पाते हैं कि हम अतीत और वर्तमान के बीच अधर में फँसे हुए हैं।

पश्चिम में युवा पीढ़ी के मन-मस्तिष्क पर धार्मिक मूल्यों का कोई निर्णायक प्रभाव शेष नहीं रहा। इसके साथ केवल भौतिक समृद्धि की अभिवृद्धि युवावर्ग की उन गहनतर आकांक्षाओं को पूरा करने में बुरी तरह अपर्याप्त साबित हुई है जो प्रत्येक विकसित मनुष्य में विद्यमान रहती है। प्रौद्योगिकी परिवर्तन की बढ़ती हुई रफ्तार के साथ-साथ पीढ़ियों के बीच जो अंतराल निरंतर बढ़ रहा है उसके कारण किसी भी प्रकार के स्वीकृत मानव-मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपना कठिनतर होता जा रहा है। समृद्ध देशों में दरिद्रता की बाधा टूट चुकी है, फिर भी मानवीय सुख में कोई उल्लेखनीय अभिवृद्धि दिखाई नहीं देती।

हज़ारों साल पहले उपनिषदों के संतों ने कहा था— **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**— मनुष्य को धन-संपत्ति से संतोष नहीं मिल सकता, और आज जब मानव जाति का उत्तरोत्तर बड़ा भाग अपनी सदियों पुरानी गरीबी की जकड़न से बाहर आता जा रहा है, तब इस दृष्टि की वैधता और भी स्पष्ट हो रही है।

दुर्भाग्य से हमारे देश में आज भी करोड़ों लोग ऐसे हैं जो गरीबी की रेखा से नीचे जी रहे हैं, जिन्हें सभ्य जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ सुलभ नहीं हैं। और हमें हर तरह से प्रयत्न करना है कि जल्दी से जल्दी प्रत्येक भारतीय को एक न्यूनतम जीवन-स्तर अवश्य प्राप्त हो जाए। फिर भी आर्थिक रूप से विकासशील समाज में धार्मिक मूल्यों की समस्या तो है ही, और इस समस्या को आर्थिक विकास होने तक किसी प्रकार रोककर रखा नहीं जा सकता।

वास्तव में यह समस्या हमारे जैसे मुख्यतः पारंपरिक समाज में और भी अधिक तीखी हो सकती है क्योंकि यहाँ अगले दशकों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का हिला देनेवाला प्रभाव और भी अधिक अनुभव किया जाएगा। इसलिए ज़रूरी है कि हम इस कठिन समस्या

के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करें, खासकर तब जब या तो धर्म को पूरी तरह त्याग देने की या फिर नितांत पुरातनपंथी सुधारविरोधी कट्टरता की आवाज़ें सबसे अधिक उठ रही हों।

वैदिक काल से ही उस धर्म ने, जिसे अब सामान्यतया हिन्दू धर्म कहा जाता है, इस राष्ट्र की नियति में एक निर्णायक भूमिका निभाई है। यह कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि इस देश में फल-फूल रहे अन्य महान विश्व धर्मों की भूमिका कमतर है, यह केवल इस तथ्य को रेखा ंकित करने के लिए है कि हिन्दू धर्म ने ही युग-युगों से हमारी राष्ट्रीय चेतना के उतार-चढ़ावों को मुख्य रूप से ढाला है और वही सदियों के आततायी शासन एवं अकल्पनीय विखंडन के बावजूद भारत को एक इकाई के रूप में बचाने में मुख्यतः ज़िम्मेदार रहा है। आज धूप-छाँह, जय-पराजय और आशा-निराशा के असंख्य उतार-चढ़ाव के बाद भारत अंततः एक संप्रभु स्वाधीन गणराज्य के रूप में उभरा है जिसकी सीमाओं के भीतर मानवजाति का सातवाँ भाग रहता है।

हमारे संविधान में विहित है कि भारत एक पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र हो, जिसका अर्थ है कि वह किसी भी धर्म के साथ पक्षपात नहीं करे और प्रत्येक नागरिक को कानून के सामने पूरी समानता उपलब्ध हो—और यह भारत-विभाजन के कठोर धक्के एवं निरंतर उठनेवाले तनाव के बावजूद तय किया गया।

फिर भी पंथ-निरपेक्षता का अर्थ यह नहीं हो सकता कि भारत के लोग अपनी धार्मिक विरासत को भूल जाएँ। और चूँकि अधिकतर संख्या में भारतीय हिन्दू हैं, इसलिए आधुनिक युग के संदर्भ में हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हिन्दू धर्म की बड़ी शक्ति यह रही है कि यह धर्म किसी धर्मग्रंथ की बजाय प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित है, और चूँकि इसमें कोई कट्टर पुरोहितवादी ढाँचा नहीं है इसलिए इसकी रचनात्मक पुनर्व्याख्या करना हमेशा संभव रहा है। वेदों के युग से आज की शताब्दी तक हज़ारों वर्षों में हिन्दू धर्म की बारंबार नई व्याख्या होती रही है, जिसमें उपनिषदों के मूलभूत सत्यों को आधार बनाकर, परिवर्तित समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सिद्धांतों की नए-नए प्रकार से व्याख्याएँ की जाती रही हैं।

हमारी अपनी शताब्दी में स्वामी विवेकानन्द और रमण महर्षि, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने हिन्दूधर्म में अंतर्निहित शाश्वत सत्यों की गतिशील पुनर्व्याख्या करके समाज को नई प्रेरणा दी है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अकल्पनीय प्रगति के सामने आज दकियानूसी अंधविश्वासों और मतवादों का टिकना असंभव है। इसके बावजूद स्वयं विज्ञान भी आज अपना वह पुराना अहंकार त्यागने को बाध्य हुआ है जिसके प्रभाव में वैज्ञानिक दावा करने लगे थे कि उन्होंने जीवन के सारे रहस्यों की कुंजी प्राप्त कर ली है।

वस्तुतः विज्ञान ज्यों-ज्यों पदार्थ के हृदय के भीतर छानबीन करता है और बाह्य अंतरिक्ष के अनंत विस्तार में ज्यों-ज्यों अधिक दूर उड़ान भरता है, त्यों-त्यों उस पर यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हम जिस ब्रह्मांड में रहते हैं उसे समझने की दहलीज़ तक ही विज्ञान पहुँच पाया है। अपने गहनतम क्षणों में अस्तित्व के अनंत और निस्सीम रहस्यों के प्रयास में विज्ञान में भी लगभग धार्मिक दृष्टिकोण की ओर झुकाव दिखाई देता है। इसलिए सतह पर भले ही यह दिखे कि विज्ञान और धर्म के बीच दो ध्रुवों जैसी दूरी है फिर भी गहराई से देखने पर पता चलता है कि जीवनमात्र के प्रति इन दो महान दृष्टिकोणों के बीच एक-दूसरे से निकटता आती जा रही है—विज्ञान में बाह्य अंतरिक्ष तथा पदार्थ के ढाँचे के भीतर पहुँचने से और धर्म में आंतरिक एवं मानवीय आत्मा की प्रकृति में प्रवेश से।

इस व्यापक संदर्भ में यदि हम चाहते हैं कि धर्म बहुसंख्यक मनुष्यों के बीच उत्तरोत्तर हाशिए पर सरकते जाने की बजाय एक नई एकान्विति के लिए गतिशील शक्ति बने तो हमें कुछ मूलभूत अवधारणाओं को स्वीकार करना होगा। इस नई एकान्विति के बिना तापपरमाणुक हथियारों के इस युग में मानवजाति का अस्तित्व बने रहना भी अनिश्चित हो गया है। इन मूलभूत अवधारणाओं में पहली अवधारणा है मानवजाति की एकता की। **वसुधैव कुटुंबकम्** की ऋग्वैदिक धारणा अब एक यथार्थ बन चुकी है। ध्वनि की गति से तीव्रतर यात्रा एवं भूमंडलीय दूर संचारों की असाधारण प्रगति के साथ यह संसार वस्तुतः हमारी आँखों के सामने ही सिकुड़ता चला जा रहा है और वह दृष्टि, जो कि ऋषियों को अंतःप्रेरणा की झलक के समान प्राप्त हुई थी, उसकी प्रासंगिकता आज ज़बर्दस्त हो उठी है।

मनुष्य की संहारक शक्ति और रचनात्मक सहयोग की क्षमता के बीच बढ़ता हुआ अंतर आज हमारे अस्तित्व

को बनाए रखने के लिए गंभीर खतरा बन चुका है। और यदि हम नस्ल और राष्ट्र, धर्म और आस्था जैसी विभाजक रेखाओं को भूलकर पूरी मानवजाति को एक परिवार के रूप में नहीं देखेंगे तो मनुष्य बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगा।

दूसरी मूलभूत अवधारणा है मनुष्य के दिव्यत्व की। उपनिषदों में मानवजाति के लिए एक अद्भुत सूक्ति है—**अमृतस्य पुत्राः**। इसका अर्थ है कि कोई कहीं भी रहे और चाहे जो आस्थाएँ अपनाए फिर भी इस दुनिया में जनमे प्रत्येक मनुष्य के भीतर पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त परमात्मा की चिनगारी मौजूद है। इस दृष्टि से मनुष्य परमाणुओं का एक आकस्मिक संपुंज मात्र नहीं बल्कि एक दिव्य तत्त्व का मूर्तिमान रूप है जिसके कारण मानवीय गरिमा की प्राप्ति उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो जाता है। ईश्वर की दिव्यता का नारा अब पर्याप्त नहीं है। ईश्वर यदि है तो वह स्वभावतः ही दिव्य होगा और इस दिव्यता का बारंबार बखान अनावश्यक है। हमें आज मनुष्य की दिव्यता और उसकी गरिमा की भावना की ओर बढ़ना चाहिए।

तीसरे, हमें समस्त धर्मों की तात्त्विक एकता की—सहनशीलता की बजाय एकता की— चर्चा करनी है। क्योंकि सहिष्णुता कहीं-न-कहीं यह नकारात्मक संकेत लिए रहती है कि अपने धर्म के अलावा दूसरे धर्मों को रहने देने की सहमति मन मारकर दी गई है। यह काफी नहीं है। ज़रूरी यह है कि ऋग्वेद की इस सूक्ति में व्यक्त सिद्धांत को सक्रिय रूप से स्वीकार किया जाए— **एकं सद् विप्राः बहुधा वदंति** (सत्य एक है, विद्वान लोग उसका वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं)।

पंथ-निरपेक्षता का अर्थ यह नहीं हो सकता है कि भारत के लोग अपनी धार्मिक विरासत को भूल जाएँ। और चूँकि अधिकतर संख्या में भारतीय हिन्दू हैं, इसलिए आधुनिक युग के संदर्भ में हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

समस्त धर्म एक ही लक्ष्य-प्राप्ति के विभिन्न मार्गमात्र हैं। इस तथ्य की निर्विवाद स्वीकृति से ही एक प्रबुद्ध पंथ-निरपेक्षता की सच्ची नींव रखी जा सकेगी। सभी धर्म मनुष्य जीवन की एक व्यापक रूपरेखा एवं मानसिक अनुप्रेरणा प्रदान करते हैं जिसके अंतर्गत मनुष्य अपने दिव्यत्व को पहचान सकता है, और अपने बहिरंग और अंतरंग यथार्थ के बीच विकसित ऐक्य के सनातन रहस्य को पहचानकर उसे विकसित कर सकता है। इस तरह देखने पर धर्म संदेह और घृणा से छिन्न-भिन्न संसार में एक महान एकताकारी शक्ति बन सकता है, बजाय इसके कि वह ऐसे संघर्ष का स्रोत रहे जैसाकि आज वह होता जा रहा है।

अंत में समाज की पुनर्रचना का प्रश्न है। जैसाकि उपनिषदों में कहा गया है, समाज की बेहतरी के लिए काम करना हमारा कर्तव्य है। पुराना आदर्शवाक्य है—**बहुजन सुखाय बहुजन हिताय**। जब तक हमारे देश में करोड़ों लोग भोजन और वस्त्र, आश्रय और शिक्षा से वंचित हैं तब तक मनुष्य की दिव्यता के बारे में हमारी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ निरर्थक हैं। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—जो व्यक्ति भूखा और नंगा है उसे धर्म का उपदेश देना पाप है, और आज हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि अपने देशवासियों का दुःख कम करें और एक नई सामाजिक आर्थिक व्यवस्था बनाएँ जिसमें कि प्रत्येक भारतीय को एक सुसभ्य मानवीय अस्तित्व के लायक अपनी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने की गुंजाइश हो। इस सिलसिले में यह आवश्यक है कि छुआछूत जैसी वाहियात कुप्रथाएँ हमेशा के लिए दूर कर दी जाएँ। जो प्रथा सैकड़ों वर्षों से हमारे राष्ट्र के माथे पर कलंक की तरह विद्यमान है और जो हिंदू-चिंतन के गहनतम सिद्धांतों के ठीक विपरीत है, उसके औचित्य प्रतिपादन में हम नकली बौद्धिक व्यायाम करते रहना बर्दाश्त नहीं कर सकते।

ऋषि-मुनियों के गहरे आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित ये सिद्धांत न केवल हिन्दू धर्म में बल्कि अन्य महान विश्वधर्मों में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, और ये मनुष्य के वर्तमान संकट के समय में अत्यंत महत्त्व के हैं। मेरा यह विश्वास है कि इन सिद्धांतों की उदार एवं उन्मुक्त स्वीकृति से ही धर्म इस परमाणुक युग में सचमुच अर्थपूर्ण हो सकता है, और वह आंतरिक मूल्यों की वह दृढ़भूमि प्रदान कर सकता है जिसके ऊपर ही भौतिक कल्याण एवं बौद्धिक जागृति का समन्वित एवं युक्ति युक्त ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। यदि धर्म संकीर्ण कट्टरता की श्रृंखलाओं में बँधा रहता है तो वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए अधिकाधिक अप्रासंगिक होता चला जाएगा, और मनुष्य जाति के भीतर एक ऐसा आंतरिक शून्य रह जाएगा जिसे भौतिक प्रगति किसी भी परिमाण में भर नहीं सकेगी।●

स्वयं से छलावा

जे. कृष्णमूर्ति

अपने आपको जो हम धोखा दिया करते हैं, मैं उस बारे में बातचीत करना चाहूँगा, अर्थात् उन भ्रमों के बारे में जिनमें कि मन लिप्त रहता है तथा जिन्हें वह खूद पर और दूसरों पर आरोपित करता रहता है। यह बड़ा गंभीर विषय है, विशेषकर इस प्रकार की स्थिति में, जिसका सामना विश्व कर रहा है। स्वयं के साथ धोखाधड़ी की इस सारी समस्या को समझने के लिए हमें उसे केवल शाब्दिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि आन्तरिक एवं आधारभूत रूप से, गहराई से समझना होगा। हम शब्दों तथा प्रति-शब्दों से बड़ी आसानी से संतुष्ट हो जाते हैं। हम दुनियादारी वाले हैं और इस नाते हम केवल इतनी ही आशा कर सकते हैं कि कोई न कोई रास्ता तो निकल ही आएगा। हम देखते हैं कि युद्ध की व्याख्या से युद्ध नहीं रुकता। ऐसे असंख्य इतिहासकार, धर्मशास्त्री और धार्मिक लोग हैं, जो इसकी व्याख्या कर रहे हैं कि युद्ध क्यों और कैसे होते हैं, परंतु युद्ध फिर भी जारी हैं और शायद पहले से अधिक विध्वंसकारी रूप में। हममें से जो वास्तव में इस समस्या को लेकर गंभीर हैं, उन्हें शब्दों से परे जाना होगा और अपने ही भीतर एक मौलिक क्रान्ति की खोज करनी होगी। केवल यही वह उपाय है जिससे मानवता का स्थायी एवं मौलिक रूप से उद्धार हो सकता है।

इस प्रकार, जब हम इस तरह के आत्म-छलावे पर चर्चा कर रहे हैं तो मेरे विचार से हमें सतही व्याख्याओं व उनके उत्तरों से सावधान रहना चाहिए। मेरा सुझाव मानें तो केवल वक्ता को सुनना भर पर्याप्त नहीं है, आत्म-छल की इस समस्या को हमें अपने दैनिक जीवन में देखते चलने की ज़रूरत है, यानी विचार करते समय और कर्म करते समय हमें स्वयं का निरीक्षण करना चाहिए कि कैसे हम दूसरों को प्रभावित करते हैं और किस तरह हमारे कर्म स्व की ही उपज हैं।

खुद को धोखा देने की वजह क्या है, उसका क्या आधार है? हममें से वास्तव में कितने इस बात को जानते हैं कि हम खुद को धोखा दे रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कि—आत्म-छल क्या है और वह कैसे उपजता है? क्या पहले हमें इस बात के प्रति सचेत नहीं होना होगा कि हम अपने आपको धोखा दे रहे हैं? इस धोखे या छल से हमारा अभिप्राय क्या है? मेरी समझ से यह बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है, क्योंकि जितना अधिक हम खुद को धोखा देते हैं, धोखा देने की ताकत उतनी ही बढ़ती जाती है, कारण यह है कि इससे हमें एक प्रकार की जीवन-शक्ति, एक प्रकार की ऊर्जा और क्षमता मिलती है, और फिर इसी धोखे का शिकार हम दूसरों को भी बनाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे हम केवल अपने पर ही नहीं, बल्कि दूसरों पर भी इस छल को थोपने लगते हैं। आत्म-छलावे का यह सिलसिला क्रिया-प्रतिक्रिया का खेल है। क्या हम इस प्रक्रिया के प्रति सचेत है? हम सोचते हैं कि हममें बहुत ही स्पष्टतापूर्वक, सप्रयोजन, प्रत्यक्ष रूप से विचार करने की क्षमता है, लेकिन क्या हमें यह भान है कि सोचने की इस प्रक्रिया में ही आत्म-छलावा है?

क्या विचार अपने आपमें ही तलाश की, खुद को सही ठहराने की, सुरक्षा और आत्म-संरक्षण ढूंढ़ते रहने की प्रक्रिया नहीं है? क्या विचार स्वयं को अच्छा माने जाने, पद, सम्मान और शक्ति पाने की लालसा नहीं है? राजनीतिक रूप से अथवा धार्मिक एवं सामाजिक रूप से, कुछ होने की यह लालसा ही क्या आत्म-छलावे का मूल कारण नहीं है? जिस क्षण मैं निकट भौतिक आवश्यकताओं के अलावा कुछ और भी चाहने लगता हूँ, तब क्या मैं एक ऐसी अवस्था निर्मित नहीं कर लेता जो

आसानी से विश्वास कर लेती है? उदाहरण के लिए, हममें से अनेक यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि मृत्यु के बाद क्या होता है, हम जितने अधिक वृद्ध होते हैं हमारी उत्सुकता भी उतनी ही बढ़ती जाती है। हम इस बात की सच्चाई को जानना चाहते हैं। हम इसे कैसे जान पाएंगे? अध्ययन अथवा विभिन्न व्याख्याओं के माध्यम से तो बिलकुल नहीं।

तो आप उसे कैसे जानेंगे? सर्वप्रथम अपने मन से सभी अवरोध निकाल देने होंगे—हरएक आशा, हमेशा बने रहने की हर ख्वाहिश, दूसरे किनारे पर क्या है इसको जानने की कोई भी उत्सुकता। क्योंकि मन हमारा अनवरत सुरक्षा चाहता है, इसमें बने रहने की चाह होती है, और एक सफल-सार्थक जीवन की, भावी अस्तित्व की इसे आस रहती है। ऐसा मन-हालांकि वह मृत्यु के उपरांत जीवन के सत्य को खोज रहा है, चाहे वह पुनर्जन्म हो या कुछ और-उस सत्य की खोज में असमर्थ है, क्या आपको ऐसा नहीं लगता? बात यह है कि पुनर्जन्म होता है या नहीं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि मन कैसे स्वयं को धोखा देते हुए एक ऐसे तथ्य को, जो हो भी सकता है और नहीं भी, सही ठहराने की कोशिश करता है। अहम बात यह है कि उस समस्या को हम कैसे लेते हैं, किस अभिप्राय से, किस प्रेरणा से, किस आकांक्षा से हम उसका सामना करते हैं।

खोजनेवाला सदा इस धोखे को अपने ऊपर थोप रहा है, कोई दूसरा यह नहीं कर सकता, वह स्वयं ही यह कर रहा है। हम पहले छलावा बुनते हैं और फिर उसके दास बन जाते हैं। स्वयं को धोखा देने का मूल कारण इस संसार में व इस संसार के बाद भी कुछ होने की हमारी चिरकामना है। इस संसार में कुछ होने की लालसा का परिणाम हम जानते हैः यह अत्यधिक भ्राँति की अवस्था है, जहाँ हर व्यक्ति दूसरे के साथ होड़ में लगा है, शांति के नाम पर हर कोई दूसरे को नष्ट कर रहा है। आप इस सारे खेल को जानते हैं, जिसे हम आपस में खेल रहे हैं, और जो कितना अजीबोगरीब आत्म-छलावा है! और इसी तरह हमें कोई सुरक्षित स्थान, कोई पद परलोक में भी चाहिए।

इसलिए जैसे ही हमारे अंदर कुछ उपलब्ध करने की, कुछ होने की, कुछ बनने की ललक होती है, हम अपने को छलना शुरू कर देते हैं। मन के लिए इससे मुक्त होना बड़ा दुष्कर है और यह हमारे जीवन की बुनियादी समस्याओं में से एक है। क्या इस संसार में कुछ न होते हुए जीना संभव है? केवल तभी समस्त छलावों में से संभव है, क्योंकि तब यह मन कोई परिणाम, किसी प्रकार का संतोषप्रद उत्तर, औचित्य-समर्थन, किसी भी स्तर पर, किसी भी संबंध में सुरक्षा नहीं खोज रह होता। ऐसा तभी हो पाता है जब मन धोखे की संभावनाओं और सूक्ष्मताओं को जान लेता है और समझदारी से हर तरह के बचाव का, सुरक्षा का परित्याग कर देता है, जिसका अर्थ है कि तब मन पूर्णतया कुछ न होने में सक्षम होता है। क्या यह संभव है?

जब तक हम स्वयं को किसी भी रूप में छलते रहते हैं, प्रेम संभव नहीं होता। जब तक मन किसी भी प्रकार का भ्रम रचने एवं उसे अपने पर आरोपित करने की क्षमता रखता है, स्पष्ट है कि वह अपने को सामूहिक अथवा संयुक्त समझ से पृथक् कर लेता है। यह हमारी कठिनाइयों में से एक है, हम यह नहीं जानते कि सहयोग कैसे किया जाये। हम इतना ही जानते हैं कि हम किसी ऐसे लक्ष्य के लिए मिलकर काम करने का प्रयास करें, जिसे आप और हम हासिल करना चाहते हों। लेकिन सहयोग केवल तभी संभव है जब आपके और मेरे बीच विचार द्वारा निर्मित कोई साझा लक्ष्य न हो।

यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि सहयोग तभी हो पाता है जब आपमें और मुझमें कुछ होने की आकांक्षा नहीं होती। जब हममें कुछ होने की आकांक्षा होती है तो विश्वास और उस तरह की तमाम बातें ज़रूरी हो जाती हैं, एक स्व-प्रक्षेपित यूटोपिया, काल्पनिक सुखराज्य आवश्यक हो जाता है। लेकिन जब आप और मैं बिना आत्म-छलावे के, बिना विश्वास और ज्ञान के अवरोधों के, सुरक्षित होने की आकांक्षा से मुक्त रहकर अनाम रूप से सृजन करते हैं, तभी वास्तविक सहयोग हो पाता है।

तो क्या बिना लक्ष्य को सामने रखे हमारे लिए सहयोग करना, एक साथ होना संभव है? क्या फल की आकांक्षा के बिना आप और मैं एक साथ मिलकर काम कर सकते हैं? निस्संदेह यही वास्तविक सहयोग है, यदि आप और मैं किसी परिणाम के बारे में सोचें, विमर्श करें, योजना बनाएँ और उस परिणाम के लिए एक साथ काम करें, तो उसमें कौन-सी प्रतिक्रिया निहित होती है? उसमें हमारे विचार, हमारे बौद्धिक मन तो निस्संदेह मिल रहे होंगे, पर भावनात्मक रूप से शायद हमारा सारा अस्तित्व उसका प्रतिरोध कर रहा होगा, और यही छलावे की जड़ है, यही आपके और मेरे बीच द्वंद्व ला

खड़ा करता है। हमारे रोज़मर्रा के जीवन में यह साफ दिखायी देने वाली हकीकत है।

आप और मैं बौद्धिक रूप से किसी काम को करने के लिए सहमत तो होते हैं, पर अचेतन स्तर पर, गहराई में, परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। मैं अपनी आशा के अनुरूप परिणाम चाहता हूँ, अधिकार चाहता हूँ, अपने नाम को आपसे पहले चाहता हूँ, हालांकि कहने में यही आयेगा कि मैं आपके संग-साथ काम कर रहा हूँ। इस प्रकार हम दोनों, जोकि उस योजना के कर्ता-धर्ता हैं, वास्तव में एक-दूसरे का विरोध कर रहे होते हैं, यद्यपि बाहर से आप और मैं उस योजना के बारे में एकमत होते हैं।

क्या हम औपचारिक रूप से नहीं बल्कि गहराई से, सही मायने में वास्तविक सहयोग कर सकते हैं? यह हमारी जटिलतम समस्याओं में से एक है, संभवतः सर्वाधिक जटिल। मैं किसी लक्ष्य के साथ अपना तादात्म्य कर लेता हूँ और आप भी उसी लक्ष्य के साथ अपना तादात्म्य कर लेते हैं, हम दोनों उसमें दिलचस्पी लेने लगते हैं, हम दोनों उसे पा लेना चाहते हैं। निस्संदेह सोचने की यह प्रक्रिया अत्यंत सतही है, क्योंकि तादात्म्य के द्वारा, जुड़ाव के द्वारा हम अलगाव ही लाते हैं, और यह हमारे जीवन में कितना साफ दिखाई देता है। आप हिन्दू हैं और मैं कैथोलिक, हम दोनों भाईचारे का उपदेश देते हैं और एक दूसरे की गर्दन पर सवार रहते हैं। ऐसा क्यों है? क्या यह हमारी समस्याओं में से एक नहीं है?

जब तक हम इन अवरोधों को, जो आत्म-छल हैं और हमें एक तरह की ज़िंदादिली का एहसास कराते हैं, विसर्जित नहीं कर देते, तब तक आपके और मेरे बीच कोई सहयोग संभव नहीं है। हम किसी समूह विशेष, राष्ट्र विशेष के साथ अपना तादात्म्य करके सहयोग कभी नहीं ला सकते।

किसी प्रकार की मान्यता सहयोग का आधार नहीं हो सकती, बल्कि वह तो विभाजित करती है। हम देखते ही हैं कि कैसे एक राजनीतिक दल दूसरे के विरोध में होता है, उनमें से हरएक आर्थिक समस्याओं को हल करने के अपने खास तरीके में यकीन रखता है, और इस तरह वे सब एक-दूसरे की काट में लगे रहते हैं। उदाहरण के लिए, वे भूख की समस्या के समाधान के लिए कृतसंकल्प नहीं हैं। वे उन सिद्धांतों में उलझे हैं जिनके ज़रिये उस समस्या का समाधान होगा। वास्तव में उनका सरोकार उस समस्या से नहीं, बल्कि पद्धति से है, जिससे उस समस्या का हल होने की बात है। इन दोनों के बीच कलह होना तय है, क्योंकि उनका सरोकार किसी धारणा से है न कि उस समस्या से। इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति एक-दूसरे के विरोध में होते हैं, हालाँकि कहने को वे यही कहते हैं कि सब में एक ही जीवन है, एक ही ईश्वर है। आप इस सबसे परिचित ही हैं। भीतर से उनके विश्वास, उनके मत, उनके अनुभव उन्हें नष्ट कर रहे हैं, उन्हें विभाजित कर रहे हैं।

मानवीय संबंधों में अनुभव विभाजन का कारण बन जाता है, अनुभव छलावे का ज़रिया है। यदि मुझे कुछ अनुभव हुआ है, तो उसमें मेरी आसक्ति हो जाती है, मैं अनुभव प्रक्रिया की पूरी समस्या की छानबीन नहीं करता, क्योंकि मैंने जो अनुभव किया है, मैं उसे ही पर्याप्त समझ लेता हूँ और उससे चिपका रहता हूँ। इस प्रकार उस अनुभव के द्वारा मैं आत्म-छलावे का शिकार हो जाता हूँ।

हमारी कठिनाई यह है कि हममें से प्रत्येक की किसी विशिष्ट विश्वास के साथ, सुख या आर्थिक सामंजस्य उपलब्ध करने की किसी विशिष्ट पद्धति के साथ इतनी एकरूपता हो जाती है कि हमारा मन उसके द्वारा जकड़ लिया जाता है और हम उसकी गहराई में जाने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः हम अपनी उन विशेष पद्धतियों, अपने विश्वासों और अनुभवों के साथ अपने में ही खोए रहना चाहते हैं। जब तक उनको समझ कर हम उनका विसर्जन नहीं कर देते—सतही तौर पर ही नहीं बल्कि गहरे तल पर भी—विश्व में शान्ति नहीं हो सकती।

सत्य किसी उपलब्धि का विषय नहीं है। उन लोगों को प्रेम का स्पर्श नहीं हो सकता जो प्रेम को हथियाना चाहते हैं अथवा उससे तादात्म्य कर लेना चाहते हैं। सत्य को जान सकना तभी संभव होता है जब मन कुछ खोज नहीं रहा होता, पूर्णतः मौन रहता है, किन्हीं ऐसी गतिविधियों और विश्वासों को नहीं रच रहा होता जिनपर वह निर्भर रह सके, जो उसे मजबूती दें, ये तो आत्म-छलावे के ही सूचक हैं। इच्छा की समस्त प्रक्रिया को समझ लेने पर ही मन निश्चल हो पाता है। तभी मन कुछ बनने के लिए सक्रिय नहीं रहता, और केवल तभी उस स्थिति की संभावना होती है जिसमें किसी प्रकार का छलावा नहीं होता।●

विमला ठकार (1921-2009) का बचपन महाराष्ट्र में बीता। बचपन से ही अध्यात्म में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त की। उनके शिक्षकों में डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी थे। आध्यात्मिक साधना के साथ विमला जी सामाजिक उत्थान की दिशा में भी सक्रिय थीं। वे आचार्य विनोबा के भूदान आन्दोलन के साथ वर्षों तक जुड़ी रहीं। 1958 में उन्होंने जे. कृष्णमूर्ति के कुछ व्याख्यान सुने। तबसे उनके चिन्तन की दिशा बदल गई। उन्होंने समझा कि जब तक मनुष्य की आन्तरिक चेतना में परिवर्तन नहीं होगा तब तक बाहरी आन्दोलन केवल क्षणिक और परस्पर विरोधी परिवर्तन ही ला पाएँगे। विमला जी ने उसके बाद अपना समय मनुष्य में आन्तरिक जागृति लाने की दिशा में लगाया। उन्होंने भारत, यूरोप और अमेरिका में अनेक वर्ष तक योग, ध्यान, गीता और उपनिषद पर आध्यात्मिक व्याख्यान दिए। बाद में उन्होंने आध्यात्मिक विकास के साथ सामाजिक परिवर्तन की दिशा में भी कार्य प्रारंभ किया और ग्रामों के विकास के लिए अनेक केन्द्र खोले। बाद के वर्षों में वे माउण्ट आबू में रहीं।

विमला ठकार की वार्ताओं पर आधारित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

यहाँ दिया जा रहा अंश कठोपनिषद् पर उनकी वार्ताओं पर आधारित पुस्तक *कठोपनिषद्ः जीवन-यज्ञ-विज्ञान* **पुस्तक से लिया गया है जिसका अनुवाद डा. तेजिन्दर वालिया ने किया है।**

जीवन में संयम ही यम है।

विमला ठकार

जब सुख की तलाश को– भौतिक, मानसिक, अतीन्द्रिय, गुह्य अथवा किसी भी स्तर के सुख को–ध्येय बना लिया जाता है, जब और अधिक की लालसा होती है, तब जीवन में अंधकार का आरंभ होता है।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में एक हल्की-सी अंतरात्मा की आवाज़ सक्रिय रहती है। जब आप शाब्दिक, ऐन्द्रिय या मानसिक स्तर पर असंयम में जाते हैं तब धीरे से वह अंतरात्मा आपसे कहती है कि अब आप उल्लंघन कर रहे हैं। वह कहती है–आप जो कर रहे हैं वह अनुचित है, आप संयम खो रहे हैं, यह असंयम है, यह अव्यवस्था है। वह असंयम भले ही केवल वाणी से संबंधित हो। जब आप झूठ बोलते हैं, जब आप आधा सत्य एवं आधा असत्य कहते हैं, तब क्या एक छोटी-सी, अति कोमल आवाज़ नहीं कहती कि यह गलत है? वह आवाज़ प्रज्ञा की होती है। वह संयम की चेष्टा करती है। आपके अंदर वह यम का कथन होता है, वह एक स्वाभाविक संयम शक्ति की हल्की-सी आवाज़ होती है। क्या हम अंतरात्मा की उस आवाज़ की उपेक्षा नहीं करते? आपकी एवं मेरी अंतरात्मा के मूल नियामक तत्त्व के सिवाय यम और कुछ नहीं है। परन्तु हम उसकी उपेक्षा करते हैं, बहुत कठोरता से उसे एक ओर हटा देते हैं, उसे दबा देते हैं।

अनाग्रही प्रज्ञा

जब भौतिक, मानसिक, बौद्धिक या अतीन्द्रिय सुखों को जीवन का ध्येय बना लिया जाता है तब फैलता है अंधकार। प्रज्ञा ऐसा क्यों होने देती है? क्योंकि प्रज्ञा, वह जीवन का सार, वह आत्मा, वह चैतन्य कोई तानाशाह नहीं है। यदि आप उसके प्रति उन्मुख होते हैं तो वह आपके लिए उपलब्ध है। वह एक आग्रही, तानाशाह नहीं है। वैसे ही जैसे प्रेम निबंधन नहीं करता। क्या प्रेम पारस्परिक संबंधों को सौदे की दुकान बनाता है? क्या प्रेम क्रय-विक्रय करना जानता है? वह स्वाग्रही नहीं होता। उसी प्रकार जीवन का सौन्दर्य, जीवन की पवित्रता, जीवन की शुद्धता, उस अनाग्रही प्रज्ञा के हमारे अंदर उपलब्ध होने में समाविष्ट है।

क्या आपको गीता से स्मरण है—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति? ईश्वर, वह प्रज्ञा का मूलतत्त्व जो सर्वत्र व्याप्त है, वह प्रत्येक मानव हृदय में भी स्पंदित है।

योग का स्थान

इसलिए आप विवेक सीखते हैं। आप योग के अंक आसन एवं प्राणायाम द्वारा रक्त तथा प्राणों को प्राणवायु देते हैं, उन्हें ताज़ा करते हैं। प्रत्याहार, जो विभेदीकरण का मूलतत्त्व है, आप उसकी ओर उन्मुख होते हैं। आप प्रत्येक ऐन्द्रिय अंग के व्यवहार के प्रति विवेक लाते हैं। जब आप समस्त इन्द्रियों के व्यवहार में सौंदर्यपूर्ण विवेक लाते हैं तो वह प्रत्याहार होता है। वह मुँह फेरना नहीं है, अपने आपको वंचित करना नहीं है, वह दमन नहीं है, निरोध नहीं है। फिर भी अद्भुत ढंग से वह आपको सुखों में लिप्त होने की बीमारी से बचाता है। अगले कदम पर, धारणा का अभ्यास प्रत्याहार को शक्ति देता है। जिस प्रकार प्राणायाम आसनों को शक्तिशाली बनाता है, धारणा एकाग्रता की, प्रत्याहार की उपलब्धि को स्थिर करती है। यदि योग को सही ढंग से समझा जाए तो वह बहुत सुंदर है। यदि हम अष्टांग योग के मूल अभिप्राय को देखते हैं तो वह अद्भुत विषय है।

ध्यान

अगले चरण में ध्यान आता है। ध्यान में व्यक्ति अपने अहंकार से ऊपर उठना प्रारंभ करता है। केवल एक सुसंस्कृत, संवेदनशील, पूर्णतः विकसित व्यक्तित्व ही अहम् से परे जाने के लिए अपना समर्पण करता है। इस प्रक्रिया में वह अपना सहयोग देता है। वह स्वेच्छा से क्रिया-रहित होना स्वीकार करता है। वह रूपांतरण की, ध्यानावस्था में जाने की स्वीकृति देता है। अस्त-व्यस्त, अनियंत्रित, अनुशासनहीन शरीर अथवा मन ध्यानावस्था को कभी आत्मसमर्पण नहीं करते। वे उससे बचने के लिए बहाने बनाते हैं।

भौतिक एवं मानसिक संपत्ति का उचित स्थान

कठोपनिषद् में कहा गया है—**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (मनुष्य वित्त से संतुष्ट नहीं हो सकता।) । यह एक सारगर्भित कथन है। वित्त सम्पत्ति है। जिसके साथ आप कुछ मूल्य जोड़ते हैं उसे संपत्ति कहा जाता है। यदि कृषि-संस्कृति में मवेशी संपत्ति थे तो आज आपकी कारों, रेफरिजेटरों तथा कम्प्यूटरों को शायद सम्पत्ति कहा जाएगा। किसी वस्तु के साथ जोड़ा हुआ मूल्य बदलता रहता है। अरण्य संस्कृति में, कृषि संस्कृति में, औद्योगिक संस्कृति में संपत्ति की व्याख्याएँ बदलती रही हैं।

आप जानते हैं, जीवित होना एक अद्भुत घटना है। सब कुछ परिवर्तित होता है, संस्कृतियों का स्वरूप बदलता रहता है। राजनैतिक, आर्थिक नक्शे परिवर्तित हो रहे हैं। शासन के संबंध, उसकी हिंसा के स्वरूप परिवर्तित हो रहे हैं। जीवित होना एक सौभाग्य है, इन समस्त विषयों को देख पाना, इनको समझ पाना एवं नश्वर विषयों की पारस्परिक क्रियाओं से ऊपर उठकर अमरत्व ग्रहण कर पाना सौभाग्य है। क्या आप जानते हैं प्रेम उस अमरत्व का प्रतीक है? ईर्ष्या, घृणा, लोभ आदि सब के सब नश्वर हैं। ब्रह्मांड के चित्रपट पर यह नश्वरता एवं अनश्वरता का नृत्य है।

वित्त का आशय संपत्ति, भौतिक पदार्थों की संपत्ति, घर-जायदाद, वाहन, बौद्धिक ज्ञान, शाब्दिक ज्ञान, आदि सभी संग्रहों से है। धन-संपत्ति आपको प्राधिकार देती है, वह प्राधिकार आपको सामाजिक मान देता है। वह प्राधिकार एक सुरक्षा के भ्रम का आभास देता है। ज्ञान भी धन है, मानसिक अनुभव, ऐन्द्रिय, अतींद्रिय, गुह्य अनुभव भी संपत्ति होते हैं क्योंकि आप उन्हें अपने लिए मूल्यवान समझते हैं।

नचिकेता यमराज से कहता है—न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। शिष्य अपनी समझ, अपना अभिमत आचार्य के समक्ष रख रहा है ताकि आचार्य जान सकें कि शिष्य कितना समझ पाया है। आचार्य एवं शिष्य के बीच का यह संवाद अद्भुत है। दोनों तरफ कुछ छिपाने को नहीं है, न तो आचार्य कुछ गुप्त रखते हैं, न ही शिष्य कुछ छिपाता है।

नचिकेता कहता है, जाने दीजिए, आप मुझे इस लोक एवं अन्य लोकों की संपत्ति का प्रस्ताव दे रहे हैं। क्या आप सोचते हैं कि मनुष्य जीवन की परिपूर्ति इनमें है? न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः, मनुष्य जाति का जीवन किसी प्रकार की संपत्ति द्वारा परिपूर्ण नहीं होता। संपत्ति एक आवश्यकता होती है, परन्तु पूर्णता नहीं होती। संपत्ति एक आवश्यकता है, ज्ञान एक आवश्यकता है, वह मस्तिष्क की संपत्ति है। आपका घर, आपकी संपत्ति एक आवश्यकता है, वे पूर्णता नहीं हैं। वे अपने आप में ध्येय नहीं हैं, वे ध्येय के साधन हैं। सभी अनुभव मन की संपत्ति हैं, वे भावनाओं के पहलू हैं। आपको सांस्कृतिक रूप से कंगाल होने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता

नहीं है कि आप भावनाओं की दृष्टि से अथवा बौद्धिक रूप से कंगाल हों या फिर भूख से पीड़ित व्यक्ति हों। भौतिक, बौद्धिक, शाब्दिक रूप से संपन्न रहिए, उनका आनंद लीजिए, परन्तु ध्यान रखिए उनमें तृप्ति नहीं है। वे जीवन का लक्ष्य नहीं हैं, ध्येय नहीं हैं।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। एक बार फिर आपको संस्कृत भाषा के संपर्क में आना पड़ता है। **मननात् मनुष्यः** (मनन करने के कारण मनुष्य मनुष्य है)। अन्य जीव-जन्तुओं के समान मनुष्य भी संसार में एक जीव है, परन्तु उसके पास विवेक की, मनन-चिन्तन की, विचार की शक्ति है। मनुष्य को प्रकृति द्वारा मन एवं बुद्धि की शक्तियों का उपहार दिया गया है, विश्लेषण सामर्थ्य एवं बुद्धि प्रदान की गई है। इसलिए ऐसा जीव जिसे प्रकृति ने विवेक की, विभेदन की, विश्लेषण एवं संश्लेषण की शक्ति प्रदान की है, क्या वह किसी भी संपत्ति के द्वारा, किसी भी स्तर पर पूर्णता का अनुभव करेगा? अवश्य ही संपत्ति के परे भी कुछ है!

मननात् मनुष्यः (मनन करने के कारण मनुष्य मनुष्य है)। अन्य जीव-जन्तुओं के समान मनुष्य भी संसार में एक जीव है, परन्तु उसके पास विवेक की, मनन-चिन्तन की, विचार की शक्ति है। मनुष्य को प्रकृति द्वारा मन एवं बुद्धि की शक्तियों का उपहार दिया गया है, विश्लेषण सामर्थ्य एवं बुद्धि प्रदान की गई है। इसलिए ऐसा जीव जिसे प्रकृति ने विवेक की, विभेदन की, विश्लेषण एवं संश्लेषण की शक्ति प्रदान की है, क्या वह किसी भी संपत्ति के द्वारा, किसी भी स्तर पर पूर्णता का अनुभव करेगाय़ अवश्य ही संपत्ति के परे भी कुछ है!

आत्मबोध में पूर्णता का भान

नचिकेता यमराज से कह रहा है—भले ही आप मुझे सभी प्रकार की धन-दौलत, भोग-विलास एवं सुख प्रदान कर दें, मैं जानता हूँ कि अंत में तो मृत्यु ही है। इसलिए मनुष्य जीवन की पूर्णता इसी बोध में है कि वह जाने कि वह क्या है? जीना क्या है? जीवन का महत्त्व क्या है, एवं मृत्यु का रहस्य क्या है?

सुकरात के कथन पर ध्यान दीजिए कि मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य यह जानना है कि वह कौन है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य आत्म-बोध है। शंकराचार्य के कथन पर ध्यान दें— **ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः** (ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है)।

मनुष्य और ईश्वर में कृत्रिम द्वैत है। ब्रह्मांड में ब्रह्म ही केवल एक चिरस्थायी मूलतत्त्व है, और आप वही हैं। **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** *(यह जो कुछ भी है सब ब्रह्म ही है)*। सृष्टि में कहीं अलग बैठा, जीवन को बाहर से नियंत्रित करता हुआ कोई ईश्वर नहीं है। ऐसी बातें धर्म-संघों के लिए छोड़ दीजिए, क्योंकि वे उन लोगों को शिक्षित करते हैं जिन्हें जीवन की विशालता से, अनंतता से संबंधित होने के लिए किन्हीं अस्थायी सहायक उपायों की आवश्यकता होती है।

पर उपनिषदों का अध्ययन एक उत्कृष्ट अध्ययन है। अध्यात्म के विज्ञान में, जीवन के विज्ञान में उपनिषद् उच्चस्तरीय अध्ययन हैं।

मनुष्य जीवन की पूर्णता संपत्ति के संग्रहण में तथा भौतिक, मानसिक, अथवा बौद्धिक संपत्ति की देखभाल में नहीं है, क्योंकि जीवन परिवर्तित होता रहता है और संपत्ति के संग्रहण से तथा सुखों को दोहराते रहने में प्राण-शक्ति घटती रहती है। किसी भी प्रकार के सुख के अतिभोग का प्रत्येक कर्म हमारी जीवन-शक्ति पर प्रभाव डालता है। आपमें वह उत्साह नहीं रहता, वह ताज़गी, वह शक्ति नहीं रहती। अन्यथा 70-75 अथवा 80 वर्ष की आयु के उपरान्त मनुष्य मस्तिष्क में जीर्णता क्यों आए? मस्तिष्क की कोशिकाओं की कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव क्यों पड़े? पर ऐसा होता है क्योंकि हम अपनी प्राण-शक्ति के प्रति असावधान रहते हैं और भौतिक, शाब्दिक, मानसिक, बौद्धिक सुखों के लिए उसका अत्यधिक उपयोग अथवा अपव्यय करते हैं।

यह मनुष्य जीवन एक बहुमूल्य अवसर है। जीवित होना हमारा सौभाग्य है, यह एक वरदान है, जीवन का अनुग्रह है। सुन्दर ऐन्द्रिय अंगों से सुसज्जित, ऐन्द्रिय शक्तियों से भरपूर, अग्नि के मूलतत्त्व की लौ, प्राण के मूलतत्त्व की लौ समाए हुए जीना ईश्वर की अनुकंपा है। इसलिए अपनी शक्तियों को संरक्षित रखना चाहिए। उनका उपयोग वैज्ञानिक ढंग से परिशुद्धता से करना चाहिए। उनका सही ढंग से उपयोग कीजिए, जीवन का आनंद लीजिए परन्तु जीवन की गतिविधियों के प्रति असावधान, असंयत अथवा अव्यवस्थित मत रहिए।

यदि आप इस प्रकार सजग होकर अपना जीवन जिएँगे तो आपके मन में यमराज के प्रति कोई भय नहीं होगा। यम जीवन में संयम का सक्रिय मूलतत्त्व है। संयम के इस मूलतत्त्व की सतर्कता के बिना, उसके नियंत्रण के बिना जीवन निस्तेज होगा।●

सर्वोदय

जॉन रस्किन

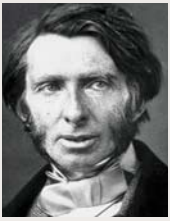

जॉन रस्किन (1819-1900) उन्नीसवीं शताब्दी के एक प्रभावशाली चिंतक और कला-समीक्षक थे। आज पर्यावरण के विषय में जो व्यापक खतरे महसूस किए जा रहे हैं, रस्किन को उनका पूर्वाभास हो गया था। वे चाहते थे कि मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य हो न कि मनुष्य अपने आपको प्रकृति का मालिक समझे और उस पर विजय पाने का प्रयास कर उसका अंधाधुंध दोहन करे। 1860 में रस्किन ने अपनी पुस्तक *Unto This Last* में उस समय सामने आ रहे पूंजीवाद के खतरों के प्रति सावधान किया था। उनके अनुसार मालिक और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों में परस्पर लाभकारी संबंध होना चाहिए न कि शोषक और शोषित का भाव। *अंटु दिस लास्ट* एक छोटी-सी पुस्तक है जिसे महात्मा गाांधी को उनके एक मित्र ने शाम को ट्रेन पर उन्हें विदा करते समय रास्ते में पढ़ने के लिए दिया था। गाांधी जी ने लिखा है कि पुस्तक पढ़कर उन्हें रातभर नींद नहीं आई। वे उसी के विचारों में खोए रहे और उन विचारों को क्रियान्वित करने के उपाय सोचते रहे।

पुस्तक का गाांधी जी ने *सर्वोदय* नाम से भावानुवाद किया। यहाँ प्रस्तुत अंश सस्ता साहित्य मंडल द्वारा प्रकाशित सर्वोदय के हिंदी अनुवाद से लिया गया है।

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना, स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किए बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के नियम बनाने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। लौकिक नियम बनानेवाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक चीज़ है। इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रगति में बाधा पहुँचानेवाली मानी जानी चाहिए, परन्तु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा सदा बनी रहनेवाली वृत्तियाँ हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर, मनुष्य को पैसा बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेनदेन के रोज़गार से आदमी अधिक से अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए, वह ठीक होगा।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का ज़ोर लेनदेन के नियम-जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अन्दर का बल है, और लेनदेन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् ये दोनों एक प्रकार के, एक वर्ग के नहीं हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का है और दूसरी ही तरह से पड़ता है जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तुविशेष की गति पर पड़ने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़-बाकी के नियम से लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जाँच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या माँग और पूर्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-जब हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उस वक्त मालिक कुछ सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय

हम लेनदेन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथापच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है, परन्तु इस समय में वे यह बात नहीं समझते। सच है कि एक-दूसरे का विरोधी होना या विरोधी बने रहना ज़रूरी नहीं है। यदि एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं, घर में माता और उसके बच्चे हैं, दोनों को भूख लगी है, तो खाने में दोनों के—माता और बच्चे के—स्वार्थ परस्पर विरोधी लगते हैं। माता खाती है तो बच्चे भूखे रहते हैं और बच्चे खाते हैं तो माँ भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह खाना खुद नहीं खा लेती। ठीक यही बात मनुष्यों के पारस्परिक संबंध के विषय में भी समझनी चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि लेनदेन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बता सकता, परन्तु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्रायः जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीतिपथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए।

नीति और न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का संबंध अवलंबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें ज़रा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह ज़िंदा रह सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकर ने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतंत्रता है। लेनदेन का नियम बनाने वाले लोग इसी को अर्थशास्त्र कहते हैं, और उनका कहना है कि इस तरह कम से कम दाम में अधिक से अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अन्त में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही ऊर्जा की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था, परन्तु यहाँ तो नौकर को संचालित करने वाली ऊर्जा उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों को नकार देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर उससे अधिक से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी कर सकती है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाए। नौकर और मालिक के बीच धन का नहीं, प्रीति का बंधन होना चाहिए।

आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्य का संबंध मान लेने का क्या कारण है? विचार करने से दिखाई देता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए ज़रूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाए जाते हैं कि व्यापारी शीघ्रता से धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम से कम दाम दे और व्यापारी जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक कमाए। इस प्रथा को बदलने की ज़रूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को केवल अपना स्वार्थ साधने के लिए अधिक से अधिक धन बटोरते रहना चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही देश की सुरक्षा के लिए जान भी दे देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवाने को भी तैयार रहना चाहिए।

कोई अर्थशास्त्री इसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परन्तु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि अधिक से अधिक मालदार बनने का क्या उपाय है। यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाए गए हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है।

पर यह सिद्धांत ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते

हैं, पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ है या नहीं। धनवान शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जानते कि जहाँ धनवान होंगे वहाँ गरीब भी होंगे। जिसके पास रुपया है उसका अधिकार उस पर चलता है जिसके पास उतना रुपया नहीं है। अगर किसी आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपके पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहाँ गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाए रखना होगा।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है—ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएँ उत्पन्न करना, उनकी देखभाल करना और उनका विनिमय करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चिनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए—ये सभी लोग राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक अर्थशास्त्र नहीं कहा जा सकता।

गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगर की मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज़्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेने की इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मज़दूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहाँ अधिक मज़दूरी मिलेगी वहाँ जाएगा। निचोड़ यह निकला कि धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज़्यादा गरीबी में रखना है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने का नियम बनाना केवल घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते से सस्ता खरीदकर महँगे से महँगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। ठीक न्याय होने की चिंता करना भी आवश्यक है। आपके काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्तव्य है।

हम देख चुके हैं कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसे की ज़रूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते हैं और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धनबल से नीतिबल अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहाँ धन काम नहीं देता वहाँ सद्गुण काम देता है।

यदि हम मान लें कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगी। इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन से स्वस्थ और उनके स्वाभिमान को बनाए रखना।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद उसे लौटाना चाहूँ तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मज़दूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मज़दूर आएँ और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊँ तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूँगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोज़गार रहेगा वह भूखा रहेगा। मैं जिस मज़दूर को रखूँ उसे पूरी मज़दूरी दूँ तब भी दूसरा मज़दूर तो बेकार ही रहेगा। फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊँगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जाएगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। जिसे मैं उचित दाम दूँगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्याय का सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका ज़ोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्यायबुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्धा का उद्देश्य है मज़दूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्धा से अन्त में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे, क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की ज़रूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसीलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहाँ दर्जे के अनुसार वेतन स्थिर होता है, प्रतिस्पर्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देनेवाला भी यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और नौसेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है। और इसीलिए प्रायः ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, फरेब, चोरी आदि अनीतियाँ बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊँ, मज़दूर चाहता है कि मैं ठग लूँ और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से पैसे बचा लूँ! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट रहती है, गरीबी का ज़ोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ती हैं, ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अन्त में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुःख भोगते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएँ प्रचलित होती हैं वह अन्त में दुःख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है।

इसलिए ज्ञानियों ने कहा है—

जहाँ धन ही परमेश्वर है वहाँ सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।

अंग्रेज़ मुँह से तो कहते हैं कि धन और ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं जिन्हें सीखकर लोग धनवान हो जाएँ। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाए—जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बातें व्यर्थ के प्रयास हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने जैसा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसेवाले के पास अधिक पैसा जमा होता है, फिर भी दोनों में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं है।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुख का आधार केवल धन को बताते हैं। इसीलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इंग्लैंड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गए हैं। बहुत-से आदमी शहरों में जमा होते जाते हैं और खेतीबाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर की सुंदर स्वच्छ वायु को छोड़कर कारखानों की गंदी हवा में रात-दिन सांस लेने में सुख मानते हैं। इसके फलस्वरूप जनता कमज़ोर होती जा रही है, लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैल रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं दिया जा सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि इस अनीति का कारण धनवान लोग हैं। उनके भोग-विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-दिन मज़दूरी करते हैं, उन्हें अपने जीवन में कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकों को देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं। धनी न हो पाने पर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। विवेक खोकर अच्छे रास्ते से धन न मिलता देख दगा-फरेब से पैसा कमाने का प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलाने में उनका उपयोग होता है।

वास्तव में सच्चा श्रम वही है जिसमें कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानव-जाति का भरण-पोषण हो। भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टि से विचार करने से बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जाएँगे। जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो वह धन अनैतिक है। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।●

मानविकी में उच्च शिक्षा और अनुसंधान

(साक्षात्कार)

प्रो. अपूर्वानन्द

प्रोफ़ेसर अपूर्वानन्द (जन्म 1962, बिहार) ने उच्च शिक्षा पटना विश्वविद्यालय से प्राप्त की। विश्वविद्यालय स्तर पर अध्यापन मगध विश्वविद्यालय से शुरू किया। चार वर्षों तक महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, में कार्य करने के बाद आप 2005 से हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, में अध्यापन कर रहे हैं। अध्यापन में आप चर्चा शैली के हिमायती हैं। प्रो. अपूर्वानंद एक कुशल अध्यापक होने के साथ प्रबुद्ध चिंतक हैं। सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर वे अपने विचार बेबाकी से प्रस्तुत करते रहे हैं। फासीवाद के खिलाफ वे विचारशील मानवतावाद के हिमायती हैं। *काफिला* नाम के ब्लॉग पर आप अपने विचार नियमित रूप से प्रकट कर रहे हैं। सामाजिक समस्याओं पर दैनिक जनसत्ता में आपका स्तंभ पाक्षिक रूप से प्रकाशित हो रहा है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। आप राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और परिषद (एनसीईआरटी) एवं केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसई) की शैक्षणिक समितियों के सदस्य रहे हैं।

पुस्तकों में प्रो. अपूर्वानंद *साहित्य का एकांत* के लेखक हैं और *तीन सौ रामायण* के संपादक और प्रस्तुत प्रश्न के संहसंपादक हैं। प्रो. अपूर्वानंद के साथ यह साक्षात्कार पत्रिका के सहायक संपादक श्री राकेश नवीन ने किया था।

प्रश्न—आज महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में नौकरी पाने के लिए पीएच.डी, एम.फिल और नेट अनिवार्य हो गया है। वहीं हिन्दी के एक प्रतिष्ठित प्रोफ़ेसर और समीक्षक ने कहा कि "हिन्दी में 90 प्रतिशत शोध-कार्य किसी काम के नहीं होते"। ऐसी स्थिति क्यों है?

प्रो. अपूर्वानन्द (आगे अपू.)— शोध-प्रबंध हिन्दी में ही नहीं अन्य विषयों में भी उस स्तर के नहीं है जिस स्तर का उन्हें होना चाहिए, या फिर जिस अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की हम कल्पना कर सकते हैं उस पर वे कहीं खरे नहीं उतरते। इसका कारण यह है कि पीएच.डी को अध्यापन के लिए अर्हता के रूप में अनिवार्य कर दिया गया है। इस कारण हर कोई जिसने एम. ए. कर लिया है या कर रहा है ऐसा समझता है कि पीएच. डी. कर लेने से वह कम से कम अध्यापन करने के योग्य हो जाएगा। पीएच. डी. का सही अर्थ ज्ञान-सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करना है, यह ध्यान बहुत कम रह गया है और इस वज़ह से इसमें प्रवेश के समय ही जैसी सावधानी बरती जानी चाहिए वह विभागों के स्तर पर नहीं बरती जाती। पीएच.डी. के प्रोग्राम में प्रवेश के समय जूनियर रिसर्च फैलोशिप के इम्तिहान में शोध की प्रवृत्ति की जाँच की कोई व्यवस्था नहीं है। वैसे शोध की प्रवृति की जाँच आप सामूहिक स्तर पर इतने बड़े पैमाने पर किए गए इम्तिहान से कर भी नहीं सकते। इस कारण अन्य विषयों के साथ हिन्दी में भी यह स्थिति है कि वे तमाम लोग जो एम.ए कर गए हैं या करना चाहते हैं, कुछ और वर्ष उच्च शिक्षा में बने रहना चाहते हैं क्योंकि इसके पहले उनकी जो योग्यता है उससे तो उन्हें नौकरी मिल नहीं सकती। नौकरियों की सख्त कमी है। तो उन्हें एक ही रास्ता दिखाई देता है अध्यापन का, और उसके लिए जब पीएच.डी की अनिवार्यता मालूम पड़ती है तो दबाव और बढ़ जाता है। अगर यह अनिवार्यता नहीं होती तो शायद यह दबाव नहीं होता।

प्रश्न—तो इसके लिए कुछ और रास्ता भी तो हो सकता है। पीएच.डी ही अनिवार्य हो ऐसा क्यों? पहले तो ऐसा नहीं था एम.ए करने के बाद ही उच्च शिक्षा में नौकरी, रोज़गार मिल जाते थे।

अपू.—अध्यापन के अलावा भी कई प्रकार के रोज़गार हो सकते हैं।

प्रश्न—पीएच.डी करने के बाद तो अध्यापन में ही आएँगे?

अपू.— ज़ाहिर है, अपेक्षा यही की जाती है। लेकिन बी.ए., बी.एससी. या एम.ए. करने के बाद भी अनेक प्रकार की अच्छी नौकरियों या अच्छे काम की पर्याप्त संख्या में व्यवस्था होना आवश्यक है। अन्यथा ऐसा लगता है कि आपके पास कोई चारा नहीं, फिर आप अध्यापन में ही आते हैं। दूसरे कामों को भी सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने की ज़रूरत है।

प्रश्न—आपने कहा कि सिर्फ हिन्दी में ही ऐसा नहीं कि 90 प्रतिशत शोध-प्रबंध बेकार हों, अन्य विषयों में भी ऐसा हो रहा है। तो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शोध के प्रावधान या उसके नियमों में परिवर्तन लाने की कोशिश क्यों नहीं की जाती?

अपू.—कुछ नहीं हो रहा, ऐसा नहीं है। अपने-अपने ढंग से कुछ लोग करते हैं, लेकिन व्यापक स्तर पर इस विषय की चेतना विश्वविद्यालयों में नहीं रह गई है। यह सब कुछ निर्भर है अध्यापक पर जो विभाग में है, और विश्वविद्यालय के माहौल पर। उच्च शिक्षा का अर्थ ही क्या है, इस समझ पर अगर यह सब कुछ गड़बड़ हो गया है तो फिर शोध में भी गड़बड़ी आएगी ही।

प्रश्न— इसके लिए कुछ कदम उठाया जाना ज़रूरी है। दिल्ली विश्वविद्यालय, जो देश का सबसे सशक्त विश्वविद्यालय है, यहाँ भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। राज्यस्तरीय विश्वविद्यालयों में तो सुनने में आता है कि अगर पीएच. डी. के लिए पंजीकरण हो गया तो डिग्री तो मिल ही जाएगी।

अपू.—जैसाकि मैंने कहा व्यक्तिगत स्तर पर लोग प्रयास कर रहे हैं। यह सिर्फ एक विभाग या एक विषय का मसला नहीं है। व्यापक स्तर पर सब को बैठकर विचार करना होगा कि दर-असल शोध की अवस्था क्या है? शोध का आशय क्या है? पीएच.डी के स्तर पर हम क्या अपेक्षा करते हैं? इसका थोड़ा अंदाज़ा आपको शोध के विषयों को लेकर मिल जाएगा। पीएच.डी का अर्थ क्या है? सामग्री संकलन है, या पुरानी बात को फिर से कह देना है, क्या है पीएच.डी? अगर हमलोग पीएच.डी को लेकर बहुत बदहवासी की अवस्था में रहेंगे, जो बदहवासी दिखाई देती है राष्ट्रपति के भाषण में, जो कुलाध्यक्ष हैं, कभी मंत्रियों के भाषण में, कभी कुलपतियों के भाषण में, कि चीन हमसे पीएच. डी. में आगे निकल गया है और हमें उससे आगे निकलना है, तो फिर संख्या पर ध्यान रहेगा। इस संख्या की गुणवत्ता तो संदिग्ध बनी रहेगी। जैसाकि मैंने कहा, जब तक यह समझ साफ नहीं होगी कि पीएच.डी. का अर्थ क्या है, इससे क्या अपेक्षा होती है, तब तक ऐसी दशा बनी ही रहेगी।

पीएच.डी. के लिए किया गया कार्य एक तरह से शोधार्थी के लिए ज्ञान के उसके अपने संसार में प्रवेश करने की तैयारी है। उससे अपेक्षा रहेगी कि वह अपने क्षेत्र में निरन्तर कुछ न कुछ योगदान करता रहे। यह चेतना जब तक पीएच.डी. के साथ नहीं जुड़ेगी तब तक ऐसे ही घालमेल बना रहेगा।

प्रश्न—तो इसके लिए कोई कोशिश?

अपू.— बीच-बीच में होती रही है कोशिशें। लेकिन जैसाकि मैंने कहा, विश्वविद्यालयों के स्तर पर जब तक गंभीरता नहीं आएगी तबतक केन्द्रीय स्तर पर की जाने वाली कोशिश का कोई अर्थ नहीं है। केन्द्रीय स्तर पर एक व्यापक समझ बनाने का प्रश्न है, क्योंकि भारत में उच्च शिक्षा एक तो है नहीं, केन्द्रीय विश्वविद्यालय हैं, राज्यस्तरीय विश्वविद्यालय हैं, निजी विश्वविद्यालय हैं, डीम्ड विश्वविद्यालय हैं। अनेक प्रकार के विश्वविद्यालय हैं। इनमें इस प्रश्न को लेकर एक समझ बन सके, एक सोच हो।

प्रश्न— क्या पीएच.डी. की डिग्री पाने के लिए ऐसा अनिवार्य किया जा सकता है कि शोधार्थी के अपने विषय के निकटवर्ती किन्हीं दो या तीन विषयों में और एम.ए करना आवश्यक किया जाए ताकि शोध की गुणवत्ता बढ़ सके।

अपू.— नहीं, ऐसा पूरी दुनिया में कही होता नहीं है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अगर हम समझ रहे हों कि इससे अंतर-आनुशासनिकता को बढ़ावा मिलेगा, तो वह और एम.ए करने से नहीं आती। असल चीज़ है शोध की विधि को समझना। जिसको हम इंटरडिसिप्लिनरी या अंतर्- आनुशासनिक कहते हैं, तो उसका अर्थ उस विषय के ज़्यादा से ज़्यादा ज्ञान सामग्री को इकट्ठा कर लेना नहीं है, बल्कि उस विषय में सोचने और ज्ञान-निर्माण की पद्धति को समझना है। सामाजिक विज्ञान एक अलग विचार-पद्धति है साहित्य एक अलग विचार पद्धति है, उस पद्धति को समझना, उस विधि को समझना। यह ज़्यादा आवश्यक है। उसके लिए दो विषयों में या तीन विषयों में एम.ए करना आवश्यक नहीं है। यह ज़्यादा ज़रूरी होगा कि आप एक से अधिक भाषा

जानें। जो बाहर कहीं-कहीं अनिवार्य है, कि अगर आप पीएच.डी करना चाहते हैं तो एक से ज़्यादा भाषा जानें।

प्रश्न—तो ऐसा कुछ अनिवार्य किया जाना चाहिए?

अपू.—यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। जैसाकि मैंने कहा, यह स्वायत्तता पूरी तरह से होनी चाहिए विभागों की, शिक्षकों की। कुछ नियम आप सामान्य रूप से बना सकते हैं, लेकिन अनिवार्य करने से कोई भी चीज़ होती नहीं है।

प्रश्न— ऐसा नहीं लगता कि भाषा का विद्यार्थी अन्य भाषाओं और उनके साहित्य से परिचित हो? जैसे हिन्दी का विद्यार्थी बाँगला भाषा और साहित्य से परिचित हो।

अपू.— ऐसा अवश्य होना चाहिए। जैसाकि मैंने कहा, यह संबंधित विभागों को और उनके प्राध्यापकों को सोचना होगा। इन सारी चीज़ों पर चर्चा तो पहले शुरू हो।

प्रश्न— चर्चा से संबंधित एक सवाल है कि पहले विश्वविद्यालयों में चर्चा का एक माहौल था, सेमिनार, गोष्ठियाँ होती थीं, या चर्चा होती थी वह बंद हो गई है।

अपू.—उसकी वज़ह यह है कि उच्च शिक्षा का अर्थ अब जो समाज ले रहा है वह है कि उच्च शिक्षा नौकरी के लिए है। वह आपको आलोचनात्मक ढंग से सोचने के लिए बिलकुल ही तैयार नहीं करती। यह बात सबसे ज़्यादा तब समझ में आई, जब दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातकस्तरीय जो नया पाठ्यक्रम लागू हुआ उसके पक्ष में सबसे बड़ा तर्क था कि पिछला पाठ्यक्रम एंप्लयेबिलिटी नहीं देता था और नया पाठ्यक्रम एंप्लयेबिलिटी देता है। पहले उच्च शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता था कि उसके द्वारा आलोचनात्मक ढंग से सोचने और अपने विवेक का विकास कर सकना संभव हो सके। अब यह उद्देश्य ही नहीं रहा गया है इसलिए चर्चा की आवश्यकता भी नहीं रह गई है। विद्यार्थी संकुचित अर्थ में पाठ्यक्रम पूरा कर ले और किसी तरह अच्छे ग्रेड पा ले, इतना भर पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में चर्चा की ज़रूरत घटती जा रही है तो इससे किसी को चिंता भी होती नहीं दिखाई पड़ती। यह होता है कि विश्वविद्यालयों में चर्चा के लिए आपको हॉल नहीं मिलेगा, कमरा नहीं मिलेगा, नौकरशाही बहुत ज़्यादा कर दी गई है। पहले जहाँ अनौपचारिक रूप से चर्चा कर सकते थे वह अब संभव नहीं रह गया। तो एकमात्र जगह बच जाती है कक्षाएँ, और आधिकारिक ढंग से की जाने वाली चर्चाएँ। आधिकारिक ढंग से की जाने वाली चर्चाओं में उतनी जान नहीं होती, जितनी अनौपचारिक ढंग से की जाने वाली चर्चाओं में जो छात्र आयोजित करते हैं या शिक्षक आयोजित करते हैं। उनमें ज़्यादा बौद्धिक ऊर्जा होती है। इसका संबंध शैक्षिक समाज में उच्च शिक्षा के अर्थ से है। जो सोच व्यापक स्तर पर व्याप्त है जब तक उसमें परिवर्तन नहीं होगा तब तक केवल चर्चा के घटने की चिंता का कोई अर्थ नहीं है।

प्रश्न— आप कह रहे हैं कि चिंतनात्मक चीज़ें घटती जा रही है, लगातार प्रशासनिक चीज़ें उन पर दबाव बना रही हैं, तो यह कहीं न कहीं जो बौद्धिकता या मौलिक चिंतन है, उसे खत्म करने या मोड़ देने रास्ता निकाला जा रहा है?

अपू.—हो यही रहा है। अब कोई साजिश करके ऐसा कर रहा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। ऐसी किसी चीज़ के लिए कोई मंत्रालय है या कहीं ऐसा हो रहा है तो मैं निश्चित रूप से नहीं कह पाऊँगा कहीं बैठ कर ऐसा कुछ तय किया जा रहा है, यह कहना कठिन है, लेकिन जो हो रहा है वह इसी दिशा में जा रहा है।

प्रश्न— जो शिक्षा मौलिक चिंतन के विकास के लिए थी वह अब केरियर-ओरिएंटिड हो गई है, जो समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान पर बहुत बड़ा प्रहार है।

अपू.— बिलकुल ऐसा है।

प्रश्न— शोधार्थी और प्राध्यापक जो पर्चे पढ़ते हैं, या प्राध्यापक जो अपने मार्गदर्शन में पीएच.डी. करवाते हैं जिससे यदि वे लेक्चरर हैं तो रीडर बन जाएँगे या रीडर हैं तो प्रोफेसर बन जाएँगे, यह कहाँ तक ठीक है?

अपू.—यह सब कुछ बहुत मशीनी ढंग से किया जा रहा है। जैसे मैंने शुरू में पीएच.डी के संदर्भ में बात की, यह उसी तरह की बात है, क्योंकि आपकी तरक्की इस बात से जुड़ी हुई है कि आप कितने सेमिनारों में भाग लेते हैं, कितनी पीएच. डी कराते हैं। तो मेरी इच्छा हो न हो, मेरी प्रवृत्ति हो न हो, मैं कराऊँगा ही। उसका नतीजा जो होना होगा वह होगा ही। मेरी प्रवृत्ति ही नहीं है, मेरी इच्छा ही नहीं है, लेकिन कुछ प्राप्त करने के लिए वह करना ही है। इसमें एक तरह की बेईमानी की संभावना को पहले से ही गूँथ दिया गया है कि आपको बेईमानी करनी ही है।

प्रश्न—मानविकी और साहित्य में शब्दों से जुड़े हुए मसले हैं। विज्ञान में कोई निश्चित आधार होता है, गणित का सूत्र होता है जिसके आधार पर वे बात करते हैं। लेकिन साहित्य में तो शब्दों का अर्थ निश्चित नहीं होता।

प्रश्न—विज्ञान सिर्फ फार्मूला नहीं है। विज्ञान सोचने का

एक तरीका है, प्रकृति को, संसार को समझने का एक तरीका है। तो यह विचार बहुत सही नहीं है कि वहाँ भाषा का उतना उपयोग नहीं है जितना समाजविज्ञान या मानविकी में। वहाँ भी भाषा का उतना ही महत्त्व है, उपयोग है, गणित में भी भाषा का उतना ही महत्त्व है। और यह बात अब स्कूली शिक्षा तक में लोगों के सामने स्पष्ट हो गई है कि उस छात्र से गणित में अच्छा करने की उम्मीद व्यर्थ है जिसकी भाषा क्षमता कमज़ोर है। इसलिए, अगर उसकी भाषा क्षमता अच्छी होगी तो वह गणित में भी अच्छा करेगा। दोनों का एक दूसरे से संबंध है।

प्रश्न—विज्ञान में शोधार्थी किसी विषय पर शोध कर रहा है, जैसे मलेरिया या डेंगू पर, तो वह इस निर्णय तक पहुँच सकता है कि इस बीमारी की यह दवा है, या मेरा शोध इतने स्तर तक पहुँचा है, अभी और आगे काम करना है। लेकिन मानविकी में, विशेषकर साहित्य में जहाँ शब्द ही शब्द हैं, सब शब्दों का खेल है, उसीमें लोग फँसे रहते हैं। मसलन, किसी के उपन्यास पर कोई शोध करता है, दूसरा आकर उसे काट देता है। जैसे प्रेमचन्द पर 600 पीएच.डी हो चुकी हैं, वैसे ही हजारीप्रसाद द्विवेदी या अन्य पर. . .

अपू.—इससे मतलब नहीं है कि कितनी पीएच. डी. हो चुकी हैं। यह तो उस मजबूरी के तहत हुआ जिसकी शुरू में हम बात कर चुके हैं। जो शोध समय के प्रवाह में ठहर सका, उस पर बात करनी चाहिए। किसी भी चीज़ पर बात करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम उसके कमज़ोर पक्ष को लेकर बात न करें, उसके मज़बूत पक्ष को लेकर बात करें। अगर प्रेमचन्द पर बात कर रहे हैं तो ऐसी पीएच.डी. को उठाएँ जो ठहर गई हैं, बीस साल गुजर जाने के बाद, चालीस साल गुजर जाने के बाद भी उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है, प्रेमचन्द के अध्येता की दृष्टि से। ऐसे देखा जाए तो बात बन सकती है।

दूसरे, इसका संबंध इस विचार से है कि मानविकी, और विशेषकर साहित्य में, भाषा अस्पष्ट होती है। मानविकी और साहित्य में यदि भाषा का प्रशिक्षण सही नहीं है तो आप उसमें अच्छा काम नहीं कर सकते । मैं इसे दोहरा रहा हूँ भाषा का सटीक और निश्चित प्रयोग होना चाहिए। वहाँ किसी प्रकार की लफ्फाज़ी की गुंजाइश नहीं है, अगर आप गंभीर व्यक्ति हैं। लेकिन हमारे यहाँ गलतफहमी है कि भाषा अस्पष्ट रहने से काम चलता है। भाषा में एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने का मतलब यह नहीं है कि वहाँ अनिश्चितता, अस्पष्टता या वायवीयता है। आप जो प्रश्न कर रहे हैं उसमें जो भाव निहित है, अस्पष्टता और वायवीयता का, तो जैसा मैंने कहा कि आपको यह पता होना चाहिए कि मैं किस शब्द का किस संदर्भ में इस्तेमाल कर रहा हूँ। यह बिलकुल सटीक है, सुनिश्चित है, जो मैं कहना चाहता हूँ शब्द उसका वही अर्थ वहन करेगा।

प्रश्न—शब्दों के अर्थ तो सुनिश्चित नहीं हैं।

अपू.—शब्दों के अर्थ संदर्भ के अनुसार निश्चित होते हैं। पर शब्दों के अर्थ इतने भी अनिश्चित नहीं हैं कि हम यह न कह सकें कि इस शब्द का यह अर्थ नहीं है। संदर्भानुसार ही हम अर्थ तय करते हैं। शब्दों के अर्थ बदलते हैं, इतिहास क्रम में बदलते हैं, कालक्रम में बदलते है लेकिन उनकी अनिश्चितता का अर्थ अस्पष्टता या वायवीयता नहीं है।

प्रश्न—मनुष्य की चेतना अंदर से विषयों में विभाजित नहीं होती, उसका समग्र जीवन एकीकृत होता है। क्या इस बात को मानविकी की शिक्षा में समाहित किया जा सकता है?

अपू.—इस पर दशकों से चर्चा हो रही है। ज्ञान का कोई क्षेत्र अपने आप में स्वायत्त नहीं होता, पूर्ण नहीं होता। उसके अंदर ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों की संवेदना का होना आवश्यक है। मनुष्य की चेतना अविभाज्य होगी, लेकिन यह भी सही है कि जो ज्ञान की विविध शाखाएँ फूटती हैं उसका कारण यह है कि संसार इतना सरल है नहीं जितना वह आँख से या अन्य इंद्रियों से देखने पर प्रतीत होता है। जब हम उसकी एक छोटी से छोटी चीज़ को समझने की कोशिश करते हैं तो वह अपने आप में बहुत बड़ा क्षेत्र बन जाता है। मसलन एक अणु को समझना, कोशिका को समझना, एक सैल को समझना, तो पता चलता है कि एक पूरी ज़िंदगी एक सैल को समझने में चली गई। इस प्रकार ज्ञान की शाखाएँ बनती हैं और उनकी अपनी उपयोगिता है।

प्रश्न—क्या ज़रूरी नहीं कि दूसरे अनुशासनों से परिचित हुआ जाए?

अपू.— बिलकुल, ज़रूरी है। जैसा मैंने कहा, लोग आवश्यकतानुसार इसकी ट्रेनिंग लेते हैं। अगर उन्हें ज्ञान के क्षेत्र में काम करना है तो और अनुशासनों का ज्ञान पाना ही होगा। ज्ञान के किसी एक क्षेत्र में सीमित रह कर, संकुचित रह कर, कोई ज्ञान का निर्माण नहीं कर सकता।

प्रश्न—हिन्दी शिक्षण की जो विधि है, परीक्षा की जो विधि है उसमें कहाँ तक बदलाव की आवश्यकता है? जैसे कविता की व्याख्या कैसी हो, किस प्रकार की जाए? एक ही ढाँचा है, उसी पर सब चले आ रहे हैं।

अपू.—पूरी तरह से, शुरू से ही आमूलचूल बदलाव की आवश्यकता है। कुछ सुझाव राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में दिए गए थे। उन्हें गंभीरता से देखने की ज़रूरत है।

प्रश्न—आपके अपने कुछ विचार?

अपू.—जैसा मैंने कहा, इस प्रश्न में ही इसका उत्तर छिपा हुआ है कि परिवर्तन की आवश्यकता है। इसमें किसी भी प्रकार की दुविधा नहीं होनी चाहिए। स्कूली पाठयचर्या के बारे में यह पहल हुई, उसपर बहस शुरू की, लेकिन कालेजों में, विश्वविद्यालयों में ऐसी बहस पहुँचनी चाहिए।

प्रश्न—ऐसी कोई बहस अभी शुरू नहीं हुई?

अपू.—ऐसा नहीं लगता।

प्रश्न—शुरुआत तो कहीं से होनी चाहिए।

अपू.—मैंने कहा कि शुरुआत हो चुकी है। यह पूरी तरह से कालेजों और विश्वविद्यालयों पर है कि वे ऐसी चर्चा शुरू करें। शुरुआत कोई भी कर सकता है। इसके लिए किसी चीज़ की प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं है। स्कूली स्तर पर शुरुआत हो चुकी है।

प्रश्न—साहित्य का जो शिक्षण है उसका क्या उद्देश्य होना चाहिए, अध्यापन के समय क्या लक्ष्य सामने होना चाहिए?

अपू.— उसे यहाँ कैसे निश्चित किया जा सकता है? आप जब एक कविता को पढ़ाएँगे तो आप पढ़ाएँगे, मैं जब एक कविता को पढ़ाऊँगा तो मैं पढ़ाऊँगा, और जो पढ़ रहा होगा आवश्यक नहीं है कि आप उसे जैसा पढ़ा रहे हैं वह वैसे ही पढ़ेगा। विद्यार्थी पढ़ेगा या पढ़ेगी तो वह अपने ही ढंग से। हम जो ज़्यादा से ज़्यादा कर सकते हैं वह यह कि पढ़ने की विधियाँ बता सकें, आप उसे उत्सुक कर सकते हैं कि वह पढ़े। पढ़ने की एक हज़ार विधियाँ हो सकती हैं। अध्यापक की सफलता इसी में है कि वह उद्बुद्ध कर सके, संभावना विकसित कर सके। अध्यापक जिस ढंग से पढ़ा रहा है, ज़रूरी नहीं है कि छात्र वैसे ही पढ़े।

प्रश्न—अगर साहित्य-शिक्षण के उद्देश्य निर्धारित होंगे तो बातचीत की संभावना बनेगी। जैसे अगर श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास *राग दरबारी* पढ़ाया जा रहा है तो उसके क्या उद्देश्य हों? उपन्यास की व्याख्या में कितने ही घटक जुड़े हुए हैं, बातचीत की कितनी ही संभावनाएँ हैं।

अपू.—संभावनाएँ असीमित हैं। यह इसपर निर्भर है कि आप कौन हैं जो पढ़ा रहे हैं। स्वयं आपने कितना पढ़ा है, स्वयं आपके साहित्य का अनुभव कितना है। अगर आपका ही अनुभव सीमित है, तो आपके पढ़ाने का पटल कैसे व्यापक होगा?

प्रश्न—अगर किसी अध्यापक के ज्ञान की अपनी सीमा है तो क्या उसपर भी कोई चर्चा होनी चाहिए? क्या उसकी भी परख होनी चाहिए?

अपू.— अध्यापक को अपने ज्ञान का लगातार नवीनीकरण करना चाहिए। अगर वह शिक्षक है और, उसमें शिक्षक के दायित्व की चेतना है। लेकिन जैसाकि मैंने कहा, पूरी तरह से इन चीज़ों को लेकर भ्रम है कि मैं क्यों हूँ यहाँ, मुझे क्या करना चाहिए, मैं क्यों यहाँ आ गया? आना चाहता था भी या नहीं। अब यह बुनियादी सवाल हैं और इनका उत्तर उच्च शिक्षा के भीतर नहीं खोजा जा सकता। ये सवाल अर्थशास्त्र के हैं, समाज शास्त्र के हैं, राजनीति के हैं। क्यों वे लोग उच्च शिक्षा में आते हैं जो उच्च शिक्षा में आना चाहते ही नहीं? अगर उनके पास कोई मौका होता कुछ और करने का तो शिक्षा में वे विकृतियाँ पैदा ही नहीं होतीं जिनकी आप बात कर रहे हैं।

प्रश्न—सर, जो भी विश्वविद्यालय हैं, चाहे वे केन्द्रीय हों या राज्यस्तरीय, सभी यू.जी.सी से नियंत्रित होते हैं।

अपू.—यू.जी.सी का यह अधिकार नहीं है कि वह बताए कि पाठ्यक्रम कैसे चलाए जाएँगे। वह सिर्फ यह सुनिश्चित कर सकता है कि उनकी गुणवत्ता कैसे सुनिश्चित की जाए, इसके बारे में संकेत कर सकता है। लेकिन यू.जी.सी. के पास यह अधिकार नहीं है कि वह किसी विभाग को यह बताए कि हिंदी कैसे पढ़ाई जाए, शोध कैसे हो। वह अध्ययन के आधार पर यह कह सकता है कि हिंदी में शोध की स्थिति बहुत दयनीय है, समाजशास्त्र में स्थिति दयनीय है। लेकिन वह यह नहीं कह सकता कि आप ऐसे करें।

प्रश्न— चर्चा तो की जा सकती है।

अपू.—बिल्कुल। लेकिन यह काम यू.जी.सी का है, जो वह नहीं कर रहा है।

प्रश्न— यू.जी.सी. नहीं कर रहा है?

अपू.—कहाँ कर रहा है? उसको यह काम करना चाहिए। उसको देश में शैक्षणिक चर्चा आरंभ करनी चाहिए और उस चर्चा को निरंतर चलाना चाहिए। यह किसी एक या दो आयोजनों में संभव नहीं है।

प्रश्न—सर, एम.ए स्तर पर जो एसाइनमैंट दिए जाते हैं पाठ्यक्रम के आधार पर, उसमें क्या ऐसा संभव नहीं है कि पाठ्यक्रम के बाहर के कहानी या उपन्यास में किन्हीं दूसरे पाँच उपन्यासों के आधार पर अध्ययन और चर्चा हो?

अपू.— यह सारा प्रश्न केन्द्रीय स्तर पर सुझाव देकर नहीं लागू किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक होगा कि अध्यापक को यह स्वायत्तता हो कि वह ऐसा कर सके। मसलन क्या मुझे यह स्वायत्तता है कि मैं अपना कोर्स ऑफर कर सकूँ। यानी अगर इस साल मैं कोई उपन्यास पढ़ाना चाहता हूँ तो मुझे यह छूट हो कि मैं वैसा कोर्स बना सकूँ। एक बना बनाया पाठ्यक्रम है जिसे मुझे पूरा करना है। तो जब तक यह स्वायत्तता नहीं होगी तब तक इस प्रकार के प्रयोग भी नहीं किए जा सकते जिनकी आप कल्पना कर रहे हैं। तो इसका अर्थ यह है कि पाठ्यक्रम को शिक्षक-आधारित बनाकर, पाठ्यक्रम के निर्माण को शिक्षकों के सुपुर्द करने की शुरुआत करनी चाहिए।

प्रश्न— पर सर, यह पाठ्यक्रम-निर्माण भी तो आप ही लोगों के द्वारा होता है।

अपू.—हम ही लोग बनाते हैं, लेकिन वह जड़ होता है, स्थिर होता है और वह निर्वैयक्तिक होता है। मुझे यह छूट नहीं है कि मैं अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम बना सकूँ। सामूहिक स्तर पर बनाए गए पाठ्यक्रम को लागू करना होता है। जे.एन.यू में यह संभव है, कुछ और जगह, आईआईटी में संभव है। लेकिन दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे विश्वविद्यालय में, मास विश्वविद्यालयों में संभव नहीं।

प्रश्न—जे.एन.यू में क्यों संभव है, दिल्ली विश्वविद्यालय में क्यों नहीं?

अपू.—इसलिए कि वहाँ छात्र कम हैं। वहाँ की ऐसी शैक्षणिक संस्कृति रही है। जे.एन.यू. के भी हर विभाग में ऐसा नहीं होता। जबतक किसी कोर्स में मेरे व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा जुड़ा नहीं होगा, मैं कुछ नया नहीं कर सकता हूँ।

प्रश्न—तो क्या यह विद्यार्थियों की संख्या ज़्यादा होने की वजह से है?

अपू.—वह भी है। शिक्षक और छात्र का अनुपात आप देखें। जब किसी कक्षा में जाता हूँ जहाँ सौ या डेढ़ सौ छात्र हैं तो वहाँ क्या किया जा सकता है, इसकी भी कल्पना करें।

प्रश्न— इन सारे मसलों पर जिनपर हमने बात की, आपकी कुछ व्यक्तिगत राय, विचार। बिलकुल व्यक्तिगत प्रश्न है।

अपू.—मैंने अब तक जो बातें कही हैं मिलाजुला कर आप कह सकते हैं कि वह मेरा दृष्टिकोण है। उच्च शिक्षा की मेरे हिसाब से जो बुनियादी शर्त है वह है स्वायत्तता की। अपनी ओर से कुछ नया करने की आज़ादी, सोचने की आज़ादी। दूसरे, इस बात की चेतना को लेकर एक गहरी दिलचस्पी मेरे भीतर हो। विश्वविद्यालय एक ऐसा इलाका हो जिसमें मुझे पता हो कि मैं समान दिलचस्पी रखनेवालों से बात कर रहा हूँ। विश्वविद्यालय ही एक ऐसा परिसर हो सकता है। श्रेष्ठता और उत्कृष्टता की खोज निश्चित रूप से लक्ष्य होना चाहिए किसी भी विश्वविद्यालय का। लेकिन श्रेष्ठता या उत्कृष्टता की खोज को आप अलग से नहीं देख सकते। यह चीज़ विश्वविद्यालय के प्रत्येक अंग से जुड़ी हुई है। वह प्रशासन से जुड़ी हुई है, शिक्षण-प्रक्रिया से जुड़ी हुई है, छात्रों से जुड़ी हुई है, विश्वविद्यालय की अन्य स्थितियों से जुड़ी हुई है। मसलन, आप दिल्ली विश्वविद्यालय के उत्तर परिसर में बैठे हुए हैं, लेकिन यहाँ किताबों की एक भी दुकान नहीं है। और यह विश्वविद्यालय है। पुस्तकालय समृद्ध नहीं है। अलग-अलग विषयों के जर्नल यहाँ नहीं आते। किसी भी विश्वविद्यालय का हृदय पुस्तकालय माना जाता है। यदि वही सबसे ज़्यादा उपेक्षित है तो विश्वविद्यालय की कल्पना आप कैसे कर सकते हैं? विश्वविद्यालय में अनौपचारिक रूप से मिलने-जुलने, उठने-बैठने की जगह होनी चाहिए।

विश्वविद्यालय का अर्थ चहारदीवारी में बंद क्लास रूम नहीं है, और सिलेबस नहीं है। यह तो बहुत सीमित है। सीखने में रुचि रखनेवाले छात्रों से यदि आप बात करेंगे तो पाएँगे कि कि उन्होंने बहुत कुछ क्लास के बाहर सीखा। लेकिन अगर उसे आप क्लासरूम और पाठ्यक्रम और एम्प्लोयेबिलिटी में संकुचित करते जाएँगे तो विश्वविद्यालय अपना अर्थ खो देगा, और दुर्भाग्य से दिल्ली विश्वविद्यालय उस रास्ते पर बढ़ रहा है। बाकी विश्वविद्यालय भी उसी रास्ते जा रहे हैं। यह शिक्षा के प्रति एक नितान्त उपयोगितावादी नज़रिया, वह भी सबसे घटिया ढंग का, अपना लिया गया है और इस पर व्यापक समाज में कोई बहस नहीं है। एक तरह से विश्वविद्यालय बहुत अकेले पढ़ गए हैं अपने आप को बचाने के संघर्ष में।●

आत्मजयी से कुछ अंश-3

कुँवर नारायण

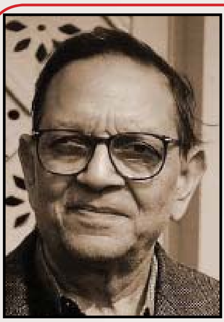

अपनी पुस्तक 'वाजश्रवा के बहाने' के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित श्री कुँवर नारायण हिंदी जगत् के मूर्धन्य दार्शनिक-चिंतक साहित्यकारों में से हैं। अपने काव्य 'आत्मजयी' में उन्होंने कठोपनिषद् के नचिकेता के माध्यम से मनुष्य के अस्तित्व से संबंधित मूलभूत प्रश्नों को उठाया है। कठोपनिषद् का नचिकेता यम से जीवन और मृत्यु का रहस्य जानने के लिए प्रश्न करता है और फिर ध्यान से यम की बात सुनता रहता है। कुँवर नारायण का नचिकेता यम के साथ अपने पिता से, और सबसे बढ़कर अपने आप से प्रश्न करता है। प्रस्तुत अंश में नचिकेता की स्वयं अपने अस्तित्व के विषय में जिज्ञासा बहुत तीव्रता के साथ उभरकर सामने आई है।

प्रस्तुत अंश 'आत्मजयी' से कवि की अनुमति से यहाँ दिया जा रहा है।

जिज्ञासा

"ले ले मुझसे अद्वितीय यह जीवन
दूना सुखमय वापस।
ज्ञान कठिन ज़िम्मेदारी है।
जो ले पहले नयी वयस!
—श्रम, साधना, अनिश्चय, चिन्तन, मनन, खोज
जिज्ञासाओं में
अक्सर उदासीन जीवन व्यतीत हो जाता।
खोज सत्य की करनेवाला
बहुधा उसमें ही खो जाता।"

"सुख, सुविधा, विश्राम...नहीं
कुछ और ध्येय है।
कभी-कभी लगता
यह जीवन अपरिमेय है
समा नहीं पाता जो दैहिक स्वप्न-परिधि में।
जाग-जाग पड़ता अकुलाकर
अपनी माँदी तृष्णाओं के
झूठे जग से धोखा खाकर....
हँसमुख छलनाओं के मति-मोहक इंगित पर
भटक-भटक मन टूट-चुका।
बार-बार वरदान न दो वे
जो मुझको स्वीकार नहीं।—
वही विमूढ़ व्यर्थ जीवन फिर?
वह पागल संसार?—नहीं।

यौवन से सन्तुष्ट न होतीं
जीवन की परिभाषाएँ
पकड़ नहीं वह—स्पर्श मात्र है,
एक नशा-भर—जिसके साथ-साथ चलती हैं
गहरी आत्म-निराशाएँ।
जीवन पूर्ण कृतार्थ न होता
इन ऐन्द्रिय आभासों से।
कुछ है जो असिद्ध रह जाता,
अपमानित-सा होता
जैसे तर्क अन्धविश्वासों से।
जो कुछ अब भी पा सकता हूँ
मुझको मिला हुआ था। दूना उसका?—
जिससे तन-मन इतना थका हुआ था?

अभी और कितनी दृढ़ता से
मुझे विमुख होना होगा?
किस तरह मरूँ?
ये सरल प्रलोभन कब तक मुझे न छोड़ेंगे?
कैसे निर्जीव वस्तुओं के आकर्षण से
छेंकी आत्मा को मुक्त करूँ?
किस तरह कहूँ—
यह मन अशान्त है
हिंसा के पागलपन से
कब तक विडम्बनाओं से हृदय न ऊबेगा?
यदि यही बुद्धि की दशा हमेशा बनी रही
तो स्वर्ग मिलेगा नहीं
मिला तो डूबेगा!

मुझको इस छीनाझपटी में विश्वास नहीं।
मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं।
हर प्रगति-चरण मानव का घातक पड़ता है।
हम जीते आपा-धापी और दबावों में।
हम चाहे जितना पाएँ कम ही लगता है
कुछ ऐसी रखी है तरकीब स्वभावों में।
यह दुनिया—यह भविष्य—
तुमको सादर वापस।
मिल सके अगर तो
एक दृष्टि चाहिए मुझे—
जीवन बच सके
अँधेरा हो जाने से,—बस!"

श्रेष्ठ का वरण

छा गई उसी क्षण मानो गहरी शान्ति
जिस समय नचिकेता ने अडिग
ज्ञान का वरण किया।
जिस पल शरीर की माँगों को स्थगित किया,
माना—
जीवन केवल सुख की साधना नहीं।
वह दिव्य शक्ति—
अनवरत खोज
अनथक प्रयास
वह मुक्ति-बोध,
उसको पशु-सा केवल तन से बाँधना नहीं!

जो केवल तन से जिया
मूर्ख वह
तन के मरते मरता है।

हम वस्तु नहीं हैं—वस्तु स्थित।
सुख का पीछा
जैसे अपनी दुम का पीछा करता कुत्ता—
वह स्वयं स्वयं में अनुपस्थित!
वह वरण नहीं
मानो खो देना था अपनी पहचान एक।
आकार एक
जैसे आकृति की शर्तों से बाहर आए,—
सन्दर्भ-रहित,
पूर्वानुरागों से टूटा अस्तित्व, किन्तु
अपने को सिद्ध न कर पाए।
नभ में भटके,
जल को थाहे,
क्षण में
त्रिकाल जीना चाहे...
लेकिन अपने को पुनः न सीमित कर पाए।

सारथी बुद्धि

जीवन संबंधित शरीर से
पर शरीर-सापेक्ष नहीं है।
जैसे गतिमय वस्तु
गति नहीं,
किसी अपरिमित के अनुभव का
परिमित में संयोग मात्र है।

सुख-दुःख की अनुभूति भिन्न
जीवनानुभूति से।
वाहन से
वाहक का मूल उद्देश्य अलग है।

व्यक्ति दास ही नहीं देह का
स्वामी भी है।
अनुशासित ही नहीं
मुक्त अनुशासक भी है इच्छाओं का।
लक्ष्यहीन ऐन्द्रिय विचरण तो
साधन का उपयोग नहीं—उपभोग मात्र है।

चिन्ताशील,
स्वतंत्र,
संयमी
कर्मठ मानव के उपाय से
खनिज परिस्थितियाँ जीवन की
दिव्य रूप हो सकती हैं।

केवल भौतिक शर्तों पर ही
जीवन कोई सान्त्वना नहीं।
वह जीना मरने से बदतर
जिसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं—कल्पना नहीं।

केवल शरीर के भोगों को दोहराने से
पूर्णता नहीं मिलती
बस, मन भर जाता है।
जीवन कृत-कृत्य नहीं होता,
यौवन-मद भीगा तन
केवल गर जाता है।

विश्वासों से
या किसी विचित्र तर्क से ही
जीने को कोई अर्थ दिया जा सकता है
इतना विराट्
इतना सुन्दर
इतना असह्य
जो शायद केवल मृत्यु तले
सन्दिग्ध क्षणों के बीच जिया जा सकता है!
जो बाधित नहीं मृत्यु से
बल्कि आकलित हो।
यदि पीना ही हो ज़हर
उसे दो तरह पिया जा सकता है—
डरते-डरते
मरने से पहले ही मरकरः
या उसी चरम भय से
कोई अन्धा बल पा,
जीवन से भी ऊपर उठकर...

तुझको अपनी
घोरतम निराशा से ही बल लेना होगा।
मृत संस्कारों से अपना जीवन खाली कर
उस खाली-पन को नया मर्म देना होगा।

केवल शरीर के लिए नहीं
तुझको शरीर के बावजूद जीना होगा!

सृजक-दृष्टि

केवल सुख से ही अब तू सन्तुष्ट न होगा
तुझको मूल रहस्य
—नया विश्वास चाहिए।

तुच्छ देह—
दैहिक अनुभव की मर्मान्तक चोटों ने
तुझमें भर दी है विकराल तिक्तता।
असमय तेरे राग-बोध में
समा गई है महाकाल की विकट रिक्तता।

इस प्रतीति के बाद
असंभव है अब तेरा
दैहिक-दैनिक स्तर पर जीवन जीते रहना।
तुझको मर्त्य नहीं
अमर्त्य का तोष चाहिए!

तेरे भीतर घिरा अँधेरा
दूर न होगा सूर्य, चन्द्र से।
तुझको अपने भीतर
नया प्रकाश चाहिए।

अब यह जग पर्याप्त नहीं है।
यह प्रदत्त संसार
तुझे स्वीकार नहीं है।
अपना कुछ विशेष
अब तुझको रचना होगा।
अपने ही भीतर उठते
इस महाप्रलय के
अंधनाश से बचना होगा।

तुझमें अब कृतित्व का कारण—
कारण को आकाश चाहिए।
तुझमें स्रष्टा की व्याकुलता,
उसको एक विकास चाहिए...

पाल-पोसकर बड़ी की गई इच्छाओं से
अब तू ज़्यादा बड़ा हो गया।

तू वह अतृप्त है जिसने
जीवन को मथ डाला है–
जिसने सपनों से जगकर
उनको देखा-भाला है।
वह आलोचक है
जिसने दुनिया के दोष निकाले।
उस निर्माता का हठ है
जो शायद मतवाला है।

तेरी आँखों में अक्षय जीवन की
एक ललक है। वह दिव्य भाव–इन्द्रियों परे–
जिसकी नश्वर में केवल
फीकी-सी एक झलक है।
जग एक सुखद सपना है।
कुछ सीमित निद्राओं-भर....
पर तू असंख्य आँखें है,
(आकाश भरा तारों से) जो
सदियों से अपलक है।

तू वह चिंतक उपवासी जो एकाकी रह सकता।
वह निश्चय
जो जीवन-भर
पीड़ाओं में जी सकता।
वह उद्वेलित सागर जो
भरपूर भरा जीवन से,
पर सूना-सूना लगता।

कोरे तत्त्वों से घिरी चेतना
अनाम कृती की।
त्यागे अपूर्ण जीवन को
जिज्ञासा एक व्रती की।

हो सकता है, नचिकेता,
तू खोजे किन्तु न पाए
(जीते जी देख न पाए)
वह दुनिया, इससे अच्छी,
अपने अज्ञात कृति की।

आत्म-शक्ति

"नचिकेता तू केवल
इंद्रियों की अपेक्षा ही उदास है।
उस अव्यय आत्म-चेतना को पहचान
सच्चिदानन्द रूप
जो शुद्ध ज्ञान हैः तुझसे दूर नहीं
तेरे ही आस-पास है।

"यह तुझसे उत्पन्न हुआ संसार
स्वप्न है तेरा ही
तेरी इच्छाओं का विकास है।
तेरे आत्म-बोध से छनती हुई ज्योति का
खाली पट पर एक अनर्गल छाया-नर्तन।
उससे मत अधीर हो,
केवल मन को कर संयमित
उसे तू नया अर्थ दे–नया माध्यम
आत्म-शक्ति पर निर्भर होकर।
तू पाएगा–
बाहर के इस अंधकार से
कहीं बड़ा भीतर प्रकाश है।
तेरे होने और न होने का
बाहर से अधिक पुष्ट
भीतर प्रमाण है।
उसे सिद्ध कर
तू पायेगा–
वहीं स्रोत है।
वहीं मुक्ति है।
वहीं त्राण है।●

'आत्मजयी' में उठाई गई समस्या मुख्यतः एक विचारशील व्यक्ति की समस्या है। कथानक का नायक नचिकेता मात्र सुखों को अस्वीकार करता हैः तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति-भर ही उसके लिए पर्याप्त नहीं। उसके अन्दर वह बृहत्तर जिज्ञासा है जिसके लिए केवल सुखी जीना काफी नहीं, सार्थक जीना ज़रूरी है। यह जिज्ञासा ही उसे उन मनुष्यों की कोटि में रखती है जिन्होंने सत्य की खोज में अपने हित को गौण माना, और ऐन्द्रिय सुखों के आधार पर ही जीवन से समझौता नहीं किया, बल्कि उस चरम लक्ष्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया जो उन्हें पाने के योग्य लगा।

'आत्मजयी' की भूमिका से

वाक्यपदीय: भर्तृहरि का भाषा-दर्शन-29

अनिल विद्यालंकार

78. सोऽयमित्यभिसंबंधो बुद्ध्या प्रकम्यते यथा।
वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित्। (2-40)

"वह यह ही है", इस प्रकार का निर्णयात्मक संबंध जिस रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, उस रूप के रहते हुए एक अक्षर भी कभी-कभी पूरे वाक्य के अर्थ का ज्ञापक बन जाता है।

(**सोऽयम् इति**– वह यह (ऐसा) ही है, इस प्रकार का (निर्णयात्मक), **अभिसंबंधः**– पारस्परिक संबंध, यथा **प्रकम्यते**– जब (जिस रूप में) स्वीकार कर लिया जाता है, **तदा**– तब, **एकोऽपि वर्णः**– एक अक्षर भी, **क्वचित् वाक्यार्थस्य प्रत्यायकः**– कभी-कभी पूरे वाक्य के अर्थ का द्योतक बन जाता है।)

भाषा की प्रक्रिया हमारे सामान्य प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के आधार पर ही चलती है। स्फोट की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि हम कभी भी किसी वस्तु या व्यक्ति को उसके समग्र रूप में नहीं देखते। वैसा कर सकना संभव भी नहीं है। हम किसी मकान या किसी पेड़ को एक समय में एक विशेष कोण से ही देख सकते हैं। उसे हर बार देखने पर हमारे देखने का कोण नया हो सकता है, और हम उसके भिन्न-भिन्न अंश देख सकते हैं। पर हर बार देखने पर हमें लगता है कि हम उसी मकान या उसी पेड़ को देख रहे हैं। इसी प्रकार जब हम किसी व्यक्ति को बार-बार देखते हैं तो हर बार उसमें कुछ परिवर्तन हो गया होता है, पर हमें लगता यही है कि हम उसी व्यक्ति को देख रहे हैं। यह स्फोट के कारण है। प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति का प्रत्यक्ष हमारे अंदर उसका एक स्फोट जगाता है जिसके आधार पर हम मानते हैं कि हम उसी वस्तु या व्यक्ति को देख रहे हैं।

इसी प्रकार का संबंध वाक्य और उसके अर्थ के बीच बन जाता है। हर वक्ता के बोलने का अपना ढंग होता है, उसी एक वाक्य को सभी बोलनेवाले कुछ अलग-अलग लहजे के साथ बोलते हैं। पर हम अपने अनुभव के आधार पर उनके वाक्यों का एक ही अर्थ समझ लेते हैं। जब किसी सभा में वक्ता कुछ कह रहा होता है तो उस समय श्रोता उसके एक-एक शब्द पर ध्यान नहीं देते पर फिर भी वे वक्ता की पूरी बात समझ लेते हैं।

ऐसा इस कारण है कि वक्ता की वार्ता की कुछ ध्वनियाँ या कुछ शब्द ही वाक्य के पूरे अर्थ का द्योतन करा देते हैं। जो अंश वक्ता सुनते हैं उसके आधार पर शेष का अनुमान साथ-साथ होता जाता है।

शब्द और अर्थ के संबंध में विचार करते हुए (अंक 3, 4–अक्टूबर, नवंबर 2011) हमने देखा है कि शब्द सदा देशकाल में होता है और अर्थ देशकाल के परे रहता है। देशकाल के नियम देशकालातीत चीज़ पर

लागू नहीं होते। देशकाल में जो नियम हैं उन सभी का क्रमबद्ध रूप में पालन करना आवश्यक है। यदि आप कंप्यूटर पर काम कर रहे हैं तो जिस काम के लिए जो कुंजियाँ जिस क्रम में दबानी हैं उस क्रम का पालन करना आवश्यक है। यदि किसी प्रक्रिया के लिए कोई शॉर्टकट बनाया गया है तो उसमें भी एक निश्चित क्रम है जिसके अनुसार ही वह शॉर्टकट काम करेगा। एक कंप्यूटर प्रोग्राम बनाने के लिए लाखों पंक्तियाँ लिखनी पड़ सकती हैं पर उन सभी में एक निश्चित क्रम होगा।

संक्षेप में, देशकाल में हर प्रक्रिया एक विशेष क्रम में होती है और उस क्रम को पूरी तरह निभाना आवश्यक है। पर जो चीज़ देशकाल के परे है उसमें क्रम नहीं होता। शब्द और वाक्य देशकाल में हैं, इसलिए उनकी ध्वनियों और शब्दों को निश्चित क्रम में बोलना आवश्यक है। पर अर्थग्रहण में क्रम नहीं होता। एक सीधा-सा उदाहरण देखें—

एक व्यक्ति दूसरे से प्रश्न करता है—

"मेरी इन सब बातों को सुनने के बाद क्या तुम अब भी मेरे साथ कंपनी में भागीदार बनना चाहोगे?"

दूसरा व्यक्ति केवल हाँ बोलता है, या स्वीकृति में केवल सिर हिला देता है। यह बहुत छोटा-सा संकेत उस बड़े वाक्य में पूछे गए प्रश्न का उत्तर है। ध्यान देने की बात है कि प्रश्न के सभी शब्द देशकाल में हैं और उन शब्दों को एक विशेष क्रम में बोला जाना आवश्यक है। पर अर्थ के देशकाल के परे होने के कारण केवल एक छोटा-सा संकेत उस दिशा में इंगित करने के लिए काफी है। भाषा की अधिकांश प्रक्रिया संकेतों के आधार पर चलती है। पर इसके लिए लंबे अनुभव से प्राप्त संस्कारों की आवश्यकता होती है। जब शब्द और वाक्यों और उनके अर्थ में पारस्परिक संबंध स्थापित हो जाए तो, जैसेकि भर्तृहरि कह रहे हैं, एक अक्षर या एक शब्द भी पूरे वाक्य के अर्थ का द्योतक बन जाता है।

79. कार्यानुमेयः संबंधो रूपं तस्य न दृश्यते।
असत्त्वानूभूतम् अत्यंतम् अतस्तं प्रतिजानते।। (2-46)

शब्दों के परस्पर संबंध का अनुमान उनके द्वारा उत्पन्न उस परिणाम के आधार पर किया जाता है जो उन शब्दों को सुनकर उत्पन्न होता है। शब्दों से उत्पन्न उस परिणाम का कोई रूप नहीं है, इसलिए उस अत्यंत रूपरहित चीज़ (परिणाम) को हम केवल अनुमान के रूप में ही जानते हैं।

(**संबंधः**—(शब्दों के) परस्पर संबंध (का), **कार्यानुमेयः**—उसके परिणाम (कार्य) से अनुमान किया जाता है (जो किसी वाक्य को सुनकर उत्पन्न होता है), **तस्य रूपं न दृश्यते**—उस परिणाम (कार्य) का रूप दिखाई नहीं देता। **अतः**—इसलिए, **तम् अत्यंतम् असत्त्वानुभूतं**—उस अत्यंत रूपरहित चीज़ के रूप में अनुभूत उस परिणाम को, **प्रतिजानते**—हम (अनुमान के रूप में) जानते हैं।)

शब्द हमें सुनाई देते हैं और लिखे जा सकते हैं। किसी शब्द के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है कि वह कब है और कहाँ है। वह कहाँ बोला गया या लिखा गया, और वह मात्रा में कितना था, यानी उसे बोलने में कितना समय लगा या लिखित रूप में वह कितना बड़ा है।

दूसरी ओर, अर्थ अनुभव किया जा सकता है पर उसके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कब है, कहाँ है और कितना है। किसी वक्ता की बात सुनते हुए हम एक-एक शब्द को नहीं तौलते। यदि हम एक-एक शब्द पर ध्यान देने लगेंगे तो हम वक्ता की बात समझ नहीं सकेंगे क्योंकि जब तक हम उसके कुछ शब्दों पर ध्यान दे रहे होंगे तब तक वह आगे निकल चुका होगा। इसलिए शब्द और अर्थ में एक-से-एक का संबंध नहीं बैठाया जा सकता।

भर्तृहरि के अनुसार अर्थ का ग्रहण शब्द का कार्य है जिसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है, उसे प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता। अर्थ असत्त्वभूत है। यहाँ *सत्त्व* शब्द को *सत्ता* से जोड़कर देखना ठीक रहेगा। हम उन चीज़ों को अस्तित्ववान मानते हैं जो हमें ठोस, मूर्त प्रतीत हों। मिट्टी और पानी को हम सत्तावान आसानी से मान लेते हैं, हवा को वैसा मान लेने में थोड़ी-सी कठिनाई होती है। अनुभूतियों को हम प्रत्यक्ष अपने अंदर अनुभव करते हैं, पर उनकी सत्ता कैसे सिद्ध करेंगे? जब भी हम किसी अनुभूति के बारे में बात करते हैं तो वह बात शब्दों में ही होती है, वे शब्द प्रत्यक्ष अनुभूति को

सामने नहीं ला सकते। हमने देखा है कि किसी शब्द का अर्थ कोई दूसरा शब्द न होकर वह अनुभूति होती है जो उस शब्द को सुनकर हमारे अंदर उठती है। इस प्रकार शब्द स्वयं हमें प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, पर उसका कार्य अर्थात् अर्थ सदा ही असत्त्व या सूक्ष्म रहता है और केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। किसी के शब्दों को सुनकर ही हम अनुमान लगाते हैं कि वह शान्ति से या क्रोध में बोल रहा है, पर उसके अंदर की शान्ति या क्रोध को हम कभी प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान सकते।

80. शब्दानां क्रममात्रे च नान्यः शब्दोऽस्ति वाचकः।
क्रमोऽपि धर्मः कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते।। (2-50)

क्योंकि शब्दों में क्रम रहता ही है, इसलिये वाक्यों के शब्दों के अतिरिक्त कोई और शब्द अर्थ का वाचक नहीं होता। और शब्दों का क्रम तो काल का गुण है, इसलिए वास्तव में वाक्य की कोई स्वतंत्र सत्ता नही है।

(**शब्दानां क्रममात्रे च**—और क्योंकि शब्दों में क्रम रहता ही है, इसलिए, **अन्यः शब्दः**—(वाक्यों के शब्दों के अतिरिक्त) कोई और अन्य शब्द, **वाचकः न अस्ति**—(अर्थ का) वाचक नहीं होता। और, **क्रमोऽपि धर्मः कालस्य**—शब्दों का क्रम तो काल का गुण है, **तेन वाक्यं न विद्यते**—इसलिए वाक्य की कोई स्वतंत्र सत्ता नही है।

यह सर्वमान्य है कि शब्दों के क्रम से वाक्य बनते हैं। इसलिए शब्दों का क्रम वाक्य का अंग होना चाहिए। पर भर्तृहरि ध्यान दिलाते है कि क्रम काल का धर्म है न कि शब्दों का। इसलिए शब्दों के क्रम के आधार पर वाक्य के अस्तित्व को स्वीकार करने पर हम भाषा के परे किसी चीज़ को बीच में ला रहे हैं जो कि तर्कसंगत नहीं है।

भाषा का विश्लेषण करते हुए हम प्रायः ही वाक्य को आधार मानते हैं और फिर वाक्य में कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का विभाजन करते हैं। यह सब हमें बहुत तथ्यपूर्ण और सार्थक लगता है। पर भर्तृहरि का कहना है कि यह विभाजन केवल भाषा के सीखने-सिखाने के एक सीमित प्रयोजन के लिए ही है। वास्तव में इन व्याकरणिक इकाइयों की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

भाषा एक अविच्छिन्न प्रक्रिया है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में हम उस प्रवाह के किसी अंश को कृत्रिम रूप से विभाजित नहीं कर सकते, उसी प्रकार भाषा के प्रवाह में वाक्यों को अलग-अलग करके देख सकना असंभव है।

एक उदाहरण देखें—

सारा अखबार देख डाला। कोई रोचक खबर नहीं मिली। उसने पास में पड़ी एक पत्रिका उठाई। उसके पन्ने पलटने लगा।

ऊपर के कथन में चार वाक्य है जो हमें स्वाभाविक लगते हैं। पर इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है—

सारा अखबार देखने पर जब कोई रोचक खबर नहीं मिली तो उसने पास में पड़ी एक पत्रिका उठाई और उसके पन्ने पलटने लगा।

इस बार वाक्य एक है पर उस एक वाक्य में बिल्कुल उतनी ही बात कही गई है जितनी पहले के चार वाक्यों में। अवश्य ही भाषा का वाक्यों में विभाजन सर्वथा कृत्रिम है। बहुत बार किसी लंबे प्रश्न का उत्तर केवल हाँ या नहीं में दे दिया जाता है। यदि कोई पूछता है—क्या आप आज शाम मीटिंग में आ रहे हैं, और आप केवल हाँ कहते हैं तो माना जाता है कि आपका वास्तव में वाक्य था, "हाँ, मैं आज शाम मीटिंग में आ रहा हूँ", पर आपने उसे केवल एक शब्द में छोटा कर दिया है। वाक्य के कर्ता, क्रिया, क्रियाविशेषण बोले नहीं गए हैं, पर वे वहाँ विद्यमान हैं।

पर इस प्रकार का मानना भाषा की विवशता नहीं है, हमारी विवशता है। निरंतर भाषा के प्रवाह की जकड़ में रहते हुए हम जहाँ किसी चीज़ की सत्ता नहीं है वहाँ भी उसकी कल्पना कर लेते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि भर्तृहरि की पुस्तक का नाम *वाक्यपदीय* है, जिसका तात्पर्य हुआ कि उसमें वाक्यों और पदों की चर्चा है। पर भर्तृहरि व्याकरण को बहुत गहरे स्तर पर ले रहे हैं, इसलिए उन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भाषा में वास्तव में वाक्यों की अलग से कोई सत्ता नहीं है। वाक्यों में विभाजन केवल किसी सीमित प्रयोजन के लिए ही किया जाता है।●

वैदिक प्रेरणाएँ-1

अनिल विद्यालंकार

1. अश्मन्वती रीयते संरभध्यम् उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन् अशेवाः शिवान् वयम् उत्तरेमाभि वाजान्।।

ऋग्वेद 10.53.8

हे मित्रो, यह जीवनरूपी पथरीली नदी बह रही है। तैयार होकर उठो और नदी के पार जाने के लिए तैरना प्रारंभ करो। हमारे लिए जो-जो दुखदायी बातें हैं उन्हें हम यहीं इस किनारे पर छोड़ दें, और तैरकर हम अपने लिए कल्याणकारी ऐश्वर्यों तक पहुँचें।

(**सखायः**—हे मित्रो, **अश्मन्वती**—पत्थरोंवाली (यह नदी), **रीयते**—बह रही है, **संरभध्वम्** —तैयार हो जाओ, **उत्तिष्ठत**—उठो—**प्र तरता**—(नदी के पार जाने को) तैरना प्रारंभ करो। **ये अशेवाःअसन्** —जो-जो दुखदायी बातें हैं उन्हें, **अत्रा जहाम**—यहीं इस किनारे पर छोड़ते हैं, **वयम्** —हम, **शिवान् वाजान्** —कल्याणकारी ऐश्वर्यों तक, **अभि उत्तरेम**—तैरकर पहुँचें।)

आइए, इस मंत्र को कुछ भागों में विभाजित करके देखें।

अश्मन्वती रीयते—पत्थरोंवाली नदी बह रही है।

जीवन के प्रवाह को यहाँ बहुत ही सुन्दर ढंग से नदी के प्रवाह का रूपक दिया गया है। पहाड़ से निकली हुई नदी के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। जगह-जगह पत्थर उसका रास्ता रोकते हैं। पर वह समुद्र तक पहुँचने के अपने संकल्प को लिए हुए हर बाधा को पार करती जाती है। मनुष्य का जीवन भी अनेक प्रकार की बाधाओं से भरा हुआ है। सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, अनेक प्रकार की बाधाएँ एक के बाद एक उसके सामने आती रहती हैं। उन्हें पार करना प्रायः आसान नहीं होता। अपने लक्ष्य तक पहुँचने का संकल्प लेकर प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामने आनेवाली बाधाओं का अपने तरीके से और स्वयं अपने प्रयास से मुकाबला करना होता है।

संरभध्वम्, उत्तिष्ठत प्रतरत सखायः—मित्रो, तैयार हो, उठो और तैरना प्रारंभ करो।

बाधाओं के सामने आने पर जो चीज़ सबसे पहले आवश्यक है वह है बाधाओं को पार करने का दृढ़ संकल्प। दृढ़ संकल्प के बिना कठोर बाधाओं को पार नहीं किया जा सकता। जीवनरूपी नदी में प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं तैरकर उस पार जाना होता है। कोई खेवनहार अपनी नाव में बैठाकर हमें इस नदी के पार नहीं ले जा सकता। कुछ ऐसे व्यक्ति जिनमें भक्ति का भाव प्रबल होता है, सोचते हैं कि अपने आपको अपने गुरु के चरणों में अर्पित कर देने से, और उसी के कहे अनुसार अपना जीवन चलाने से हमारे जीवन की सब समस्याएँ हल हो जाएँगी। यह केवल भ्रान्ति है। बहुत-से मनुष्य स्वयं सोचने और परिश्रम करने से बचना चाहते हैं, इसलिए अज्ञान और अंधविश्वास के अधीन होकर वे अपने जीवन का सारा भार गुरु को सौंपकर संतुष्ट हो जाते हैं। पर जैसाकि प्रायः होता है, गुरु भी उतना ही अज्ञानी होता

है जितने कि उसके भक्त। इस संसार में कोई किसी का भार नहीं उठा सकता, केवल भार उठाने में कुछ सहायता कर सकता है। प्रयास व्यक्ति को स्वयं करना होता है।

अत्रा जहाम ये असन् अशेवाः—जो हानिकर बातें हैं उन्हें हम यहीं इस किनारे पर छोड़ दें।

संग्रह करना और जो भी मिला है उसे बचाए रखना मनुष्य की सहज वृत्ति है। हम देखते हैं कि कुछ चीज़े जिनसे हमें पहले सुख मिला था परिणाम में जाकर दुखदायी हो गई हैं, पर फिर भी उन्हें छोड़ने को हमारा मन नहीं करता। लगता है वे चीज़ें, भले ही थोड़ी मात्रा में सही, हमें कभी-कभी कुछ सुख या संतोष देती हैं। कोई व्यक्ति जिसे शराब पीने की आदत है, जानता है कि शराब पीना बुरा है, पर यह सोचकर पीने की आदत नहीं छोड़ता कि यदि पिएगा नहीं तो अपने गम को भुलाने के लिए करेगा क्या। यह जानते हुए भी कि दूसरों की निन्दा करना बुरा है, बहुत-से लोग परनिन्दा में रस लेते हैं।

यह मंत्र कहता है कि यदि जीवन की नदी को पार करना है तो उन सब बातों को इसी किनारे छोड़ देना होगा जो प्रारंभ में आकर्षक होते हुए भी परिणाम में दुखदायी हैं। पिछली बातों को छोड़े बिना हम नई बातों को ग्रहण नहीं कर सकते। पीछे की ओर मुड़-मुड़कर देखते रहनेवाला व्यक्ति आगे की ओर प्रगति नहीं कर सकता।

शिवान् वयम् उत्तरेमाभि वाजान् —हम पार उतरकर कल्याणकारी ऐश्वर्यों की ओर आगे बढ़ें।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य का जीवन दुःखों की अटूट शृंखला नहीं है। जीवन में दुःख हैं पर उनसे पार पाया जा सकता है। संसाररूपी नदी में भँवर हैं, तूफान भी हैं, पर उनका सामना कर उनसे पार पाने की शक्ति भी मनुष्य में है। और जीवनरूपी नदी को तैरकर जहाँ जाना है वह कोई शून्य स्थान नहीं है। वह स्थान ऐश्वर्यपूर्ण है और कल्याणकारी (शिव) है। हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य उस शिवत्व की प्राप्ति है।

2. अनुहूतः पुनरेहि विद्वान् उदयनं पथः।
आरोहणं आक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्॥ (अथर्व वेद 5-30-7)

हे बुद्धिमान मनुष्य, तुम्हें बुलाया जा रहा है, ऊपर की ओर ले जानेवाले मार्ग पर फिर वापस आ जाओ, क्योंकि ऊपर की ओर उठना और आगे बढ़ना ही प्रत्येक जीवधारी के चलने का सही मार्ग है।

(**विद्वान**—हे बुद्धिमान मनुष्य, **अनुहूतः**—तुम्हें बुलाया जा रहा है, **उदयनं पथः**—ऊपर ले जानेवाले मार्ग पर, **पुनः एहि**—फिर वापस आ जाओ, (क्योंकि) **आरोहणं**—ऊपर उठना, **आक्रमणम्** —आगे बढ़ना, **जीवतो जीवतः**—प्रत्येक जीनेवाला का, **अयनम्** —चलने का मार्ग है।)

कोई भी मनुष्य अपनी वर्तमान दशा से संतुष्ट नहीं रहता। वास्तव में जीवन वहीं दिखाई देता है जहाँ अपनी वर्तमान दशा से असंतुष्ट लोग अपने जीवन को अधिक अच्छी दिशा में ले जाने का प्रयास कर रहे हों। जीवन में सदा आगे बढ़ते रहना मनुष्य के स्वभाव में निहित है।

पर आगे बढ़ने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य कई बार यह नहीं जानता कि उसे किस दिशा में आगे बढ़ना है और उसके लिए उसे क्या करना है। हर समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अन्य मनुष्यों की तुलना मे आगे बढ़े हुए होते हैं। वे जीवन को अधिक अच्छी प्रकार समझते हैं। उनका कर्तव्य होता है कि वे औरों का मार्गदर्शन करें।

इसलिए समाज के अनुभवी लोगों को कम अनुभववाले या पीछे रह गए लोगों का मार्गदर्शन करना होता है। यह मार्गदर्शन जीवन के स्थूल भौतिक पक्षों के बारे में भी हो सकता है, और सूक्ष्म, आंतरिक आध्यात्मिक पक्ष के बारे में भी। पर वह मार्ग ऐसा हो जो मनुष्य को ऊपर की ओर ले जानेवाला हो।

इस मंत्र में सामान्य मनुष्य को भी *विद्वान* कहकर संबोधित किया गया है। इसका अर्थ है कि हर मनुष्य के अंदर ज्ञान की एक आंतरिक ज्योति होती है जिसका प्रकाश उसके अस्थिर स्वभाव के कारण स्पष्ट दिखाई नहीं देता। ज्ञानी लोगों से प्रेरणा और मार्गदर्शन पाकर वह ज्योति जगाई जा सकती है।

मंत्र संकेत करता है कि ऐसी प्रेरणा को बार-बार देने और प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। समझदार मनुष्य भी जीवन के रास्ते में भटक जाते हैं। उन्हें फिर सही मार्ग पर आने के लिए चेताने की आवश्यकता होती है।●

Indian values do not need to be changed

Sadhvi Bhagwati Saraswati

(Sadhvi Bhagwati Saraswati was raised in a traditional, upper class, American family in Hollywood, California. She has a Ph.D. in psychology from Stanford University. She left America in 1996 to come and live permanently at Parmarth Niketan Ashram, in Rishikesh. She took Sanyas diksha in June, 2000, from her guru Swami Chidanand Saraswatiji, marking her pledge to a life of service, renunciation, purity and devotion.

Sadhvi Bhagwati teaches meditation to seekers from every part of the world and also counsels people who come looking for answers and guidance in spiritual matters. She leads discourses and question-answer sessions on topics ranging from Indian spirituality to the bridge between science and spirituality to the keys of true happiness and meaning in daily life. She travels across the world, giving lectures and question-answer sessions and teaching meditation. Her talks blend the knowledge and logic of the West with the insights, spirituality and wisdom of the East.)

I have lived in Rishikesh for the past 15 years and have witnessed a great shift in the mindset of Indians, particularly the younger generation. While they are ardently patriotic, and they join Facebook groups with names like “Yuva Bharat”, “Bharat Swabhiman” and “Bharat Nirmaan Sena”, they are not, in most cases, convinced by Indian culture. They are turning from vegetarians to non-vegetarians, and from teetotallers to drinkers at alarming rates.

My academic background is psychology from Stanford University, hence I have a predisposition to analysis. Further, I came to India at the age of 25, having grown up in Los Angeles, in the heart of American upper class, ‘modern’ culture and was so enraptured by the grace, the truth, the divinity and the depth of traditional Indian culture that — despite protests from every single person I knew back home — I stayed. So I have seen both worlds, up close. I have seen hip American culture where acceptance is based on how you look in a black mini-skirt, with how many times a week you’re seen drinking coffee past 2 am in the local “hot spot”, with how many drug-filled dens of decadence you visit on a particular

Saturday night. And I have seen the results. Fifteen year olds killed in drunk-driving accidents, cocaine-induced pregnancies and abortions at 17, anorexia and bulimia stealing the minds and lives of Ivy-League students, third marriages by the age of 25, a country where the most commonly prescribed medicines are anti-depressants, anti-anxiety medication, sleeping pills and Viagra.

There is much to be emulated about Western culture. There is a commitment to excellence and perfection unmatched by most other countries. Punctuality, reliability, fulfilment of promises, adherence to contracts, integrity and honesty are all attributes which other countries, especially India, would benefit by adopting. However, tragically, these are not the values being adopted by the metropolitan Indian youth. Rather, it is the illusion of sophistication, the allure of glamour, the myth of material enjoyment that are seeping into Indian culture.

It is not that India needs new values. Indian culture, values, ethics and traditions form, in my opinion, the very foundation of a successful, meaningful and fulfilling life. If you ask a random person in Los Angeles, stepping out of her Mercedes car, "How are you?", chances are you will get a litany of things that are wrong. My back is hurting, the housekeeper didn't show up, the store ran out of my favourite cereal, there was too much traffic on the freeway, etc. If you ask the same question to an elderly village woman in the Himalayas carrying a load of firewood on her head, back to cook the family's one meal a day, chances are your question will be answered with "*Sab Bhagawan ki kripa hai*". This is the fruit of Indian culture: Deep satisfaction despite the ups and downs of daily life. Objectively, God's grace seems to have showered significantly more upon the woman in the Mercedes. Yet, she needs a pill to go to sleep, a pill to wake up, a pill to make it through the day. The woman in the Himalayas sleeps and wakes with a smile on her face.

Indian culture is one that feeds first and eats second. I cannot count the number of times a family that doesn't have the means to feed itself has begged me to come home for a meal. Or, if I continually refuse a meal, at least a cup of tea. This is Indian culture. Abundance is not measured by a bank balance. It is measured by whether one feels that one's cup is overflowing. If my instinct is to share, to give, if I feel that I have more than enough and hence I want to feed others, I am rich, even if my feet are bare.

India does not need new values. The values are what have kept India strong and united despite thousands of years of invasions. The values are what have kept Indians' minds and hearts independent even when their country was colonised and oppressed. However, what is needed is a new vocabulary. The youth of today are being raised differently than any generation prior to them. Information is at their fingertips. Everything has an answer: If you don't know it, just Google it. So we cannot expect them to accept anything and everything just because someone said so or because God made it that way.

Most middle-aged Indians would never have dared to question or disobey their parents. Therefore, their

children's rebuttals seem disrespectful. They assume their children are intractable, when the truth is they are simply bringing the new culture of questioning from school to home. The youth of today are being raised and primed to ask, to wonder, to question, to investigate, to discover. They will not be appeased by the same answers that kept their parents' generation in check. Rather, what we need is to find the vocabulary with which to give them the same values, but in a way that makes sense to their inquiring minds. For example, I have heard innumerable parents exhort their children to believe that the cow is holy and, therefore, they must not eat hamburgers. "But why is the cow holy?" they ask. "Because it is", or "Because our scriptures say so," — these are the common answers. When there is an answer for everything today, the lack of an answer to this makes them understandably suspicious.

However, there are scientific, rational, pragmatic reasons to be vegetarian, regardless of whether one believes the cow is holy or not. The fact that the meat industry is the single greatest contributor to world hunger as well as environmental destruction is quite compelling. The wastage of grain, land, water and energy used in the production of meat is enough to convince most.

This is just one example, but it illustrates the fact that it's not the values which need to be changed. The values are correct. It's simply our method of explaining them that needs to be updated.

(Courtsey *The Pioneer*, New Delhi)

The purpose of human life is the discovery of Truth, the unitive knowledge of the Godhead. The degree to which this unitive knowledge is achieved here on earth determines the degree to which it will be enjoyed in the posthumous state. Contemplation of truth is the end, action the means. In India, in China, in ancient Greece, in Christian Europe, this was regarded as the most obvious and axiomatic piece of orthodoxy. The invention of the steam engine produced a revolution, not merely in industrial techniques but also and much more significantly in philosophy. Because machines could be made progressively more and more efficient, western man came to believe that men and societies would automatically register a corresponding moral and spiritual improvement. Attention and allegiance came to be paid, not to Eternity, but to the Utopian future. External circumstances came to be regarded as more important than states of mind about external circumstances, and the end of human life was held to be action, with contemplation as a means to that end. These false and, historically, aberrant and heretical doctrines are now systematically taught in our schools and repeated, day in, day out, by those anonymous writers of advertising copy who, more than any other teachers, provide European and American adults with their current philosophy of life. And so effective has been the propaganda that even professing Christians accept the heresy unquestioningly and are quite unconscious of its complete incompatibility with their own or anybody else's religion.

(Aldous Huxley, in *Introduction to the Bhagvad Gita*, New American Library)

The Search for Ultimate Reality

Sir James Jeans

Sir James jeans (1877-1946) was an eminent physicist of the 20th century. He taught at Cambridge and Princeton University as a professor of applied mathematics. Jeans, along with Arthur Eddington, was a founder of British cosmology. After retiring in 1929, he wrote a number of books for the lay public, including *The Universe Around Us, The New Background of Science*, and *The Mysterious Universe* and *Physics and Philosophy.*

These books made Jeans well known as an expositor of the revolutionary scientific discoveries of his day, especially in relativity and physical cosmology.

The piece given here is a condensed version of the last chapter of Jeans' book *The New Background of Science. The heading is given by the editor.*

The Mathematical Picture

We have discussed various attempts to create faithful picture of the phenomena of nature. These pictures have, in the main, been of three types, which we have described as animistic, mechanical and mathematical. We have found that the mathematical picture shows a distinct pre-eminence over the others in that, so far as we know, it depicts the phenomena of nature with complete 'veri-similitude'; the other pictures give only approximation to the truth.

It might seem a simple and obvious step to conclude that the reality underlying nature must be more closely allied to mathematics than to mechanism or to animism, but it is a step we must take with extreme caution.

Our picture of nature obviously owes something to the underlying reality, since if this is abolished, there would be no phenomena to depict, but it must also owe something to our mode of apprehending the phenomena. The scientists, the artists, the poet and the moralist will all draw very different pictures of the universe in which they live; they measure by very different scales of values. For this reason, the physicist must be careful not to accept a mathematical picture of nature as a picture of reality until he has considered how far it merely reflects his own mental attributes. As Eddington says

> We ourselves, our conventions, the kind of thing that attracts our interests, are much more concerned than we realise in any account we give of how the objects of the physical world are behaving.

Some go so far as to claim that the mathematical qualities of the present scientific picture of nature originate entirely in our own minds. They argue with Kant that our minds act as

lawgivers to nature, prescribing to the external world the ways in which its phenomena shall be perceived by us. The fact that only unbent pennies are found in an automatic machine does not prove that the outer world consists of unbent pennies, but merely that the machine has a selective mechanism which will only accept unbent pennies. In the same way our minds may have a selective action for simple mathematical laws and the laws that we so proudly proclaim as our discoveries about nature may in actual fact tell us nothing at all about the workings of nature — only something about ourselves, and the workings of our own minds.

Although I do not think many philosophers of today would go to the whole distance with Kant in this contention, yet many go a long way. Bertrand Russell, for instance, writes

> I think the Universe is all spots and jumps, without unity, without continuity, without coherence or orderliness or any of the other properties that governesses love. . .
>
> Order, unity and continuity are human inventions just as truly as are catalogues and encyclopaedias.…
>
> It seems probable that any world, no matter what could be brought by a mathematician of sufficient skill, within the scope of general laws. If this be so, the mathematical character of modern physics is not a fact about the world, but merely a tribute to the skill of the physicist.

The mathematical physicist, however, is not as skilful as this, and he knows it. He knows more than his powers; he knows their limitation also. He knows, for instance, that he can never find two odd numbers whose difference is 37; he knows in the same way that he cannot reduce a lawless cosmos to law and order.

To take an instance, the physicist is accustomed to plot out his observations in diagrammatic form, each observation being represented by a single point in a diagram. Sometimes these points are found to fall in a simple, regular order, and are then, held to disclose a law of nature. For example, if a gas is kept at a very low constant pressure, the points obtained by plotting its volume against its temperature are found to lie in a very simple way — they all lie on a straight line. We declare the result to be a ‘law of nature’ — at constant low pressure, the volume of a gas varies as its temperature. At slightly higher pressures, the points no longer lie on a straight line, but still lie on an only slightly more complicated curve, a parabola of small curvature. At higher pressures still the curve becomes an even more complicated curve, but is still held to express a law of nature, the law of Van der Waals.

Suppose, however, that the points resulting from these observations had shown no regularity at all, but had lain higgledy-piggledy over our diagram like confetti on a pavement after a wedding. The mathematician could still have drawn a curve through them all, but it would have been useless and meaningless. In actual fact, he could draw an infinite number of curves and their very multiplicity destroys their value. When the points representing 100 observations within a certain range are found to lie on a straight line, it is a matter of common experience that if new observations Nos. 101, 102, etc. are made within the same range, the points representing these new observations will, in all probability, lie on the same straight line. This could not have been predicted a priori on purely rationalistic grounds; it expresses an empirical fact about nature, which we may interpret as evidence that nature confirms to law and order. But if the first 100 observations had lain chaotically all over our diagram, no amount of drawing of complicated curves would have given us any guidance as to how the next observations would lie. The engineers mathematician could draw a million curves through the 100 points, but they would all be valueless, because we would have nothing to tell us on which of them the next observation would lie.

This simple illustration shows how we can differentiate between laws foisted on us by the ingenuity of mathematicians, and laws which express true properties of nature. As Leibnitz pointed out in his Metaphysical Treatise, simplicity of statement is essential to a law of nature. So much is this the case that many thinkers have projected this simplicity on to nature itself, and we find Kepler writing: "nature loves simplicity and unity". Actually it is we students of nature who love simplicity and unity — not, as I see it, after the manner of Bertrand Russell's governesses, but rather because they provide evidence that we are attaining to a true understanding of natural processes. With this simplicity of law comes uniqueness, and a capacity to predict. On the other hand, the characteristics of laws made solely by mathematical ingenuity are complexity, multiplicity and ambiguity and inability to predict.

Now it seems abundantly clear that the laws of the theories of relativity and quanta are of the former type. Although the road by which they were attained was arduous and thorny, the law themselves are simple to the last degree and their capacity to predict accurately knows of no exception. Thus, Einstein writes :

> In every important advance the physicist finds that the fundamental laws are simplified more and more as experimental research advances. He is astonished to notice how sublime order emerges from what appeared to be chaos. And this cannot be traced back to the working of his own mind but is due to a quality that is inherent in the world of perception.

We have had ample evidence of this tendency towards simplicity in the present book. We have seen Heros' simple synthesis of the two laws of Euclid gradually expanding in scope until it embraces almost all the activities of the universe and yet maintaining its original simplicity of mathematical form throughout. Phenomenal nature is reduced to an array of events in the four dimensional continuum, and the arrangement of these events proves to be of an exceedingly simple mathematical kind. The discovery of the pattern underlying the arrangement might have been expected to suggest some reason why this special arrangement prevailed rather than another. It is as though we had set out to study the fundamental texture of a picture and had found this to consist of regularly spaced dots as in half-toned print. We are not concerned with the meaning of the picture as a whole, which may be moral or aesthetic or anything else; this is not the province of science. We are concerned only with the fundamental texture of the picture, which might conceivably have told us something as to its physical nature, something for instance as to the substance on which the picture was printed. But science has so far been unable to discover anything about the dots except the exceeding simplicity of their arrangement.

It is extraordinarily difficult to believe that all this newly discovered simplicity tells us nothing about nature, but only something about our own mental processes for if so, what precisely does it tell us? That our minds run naturally and inevitably to matrices, tensors, four dimensional geometry, and all the various square roots of minus one? Every schoolboy will dismiss such a suggestion as grotesque, and the physicists will certainly concur. For we could not see the end of the road when we started on it; it must have seen the beginning which attracted us, and this was rough and arduous to the last degree. If our minds had been thrusting mathematical properties on to the nature, we should have designed a more readily intelligible nature than that described in the present book; we may feel just as sure that the repellently difficult matrices and tensors and the brain-wrecking construction of four-dimensional geometry come to us from the external world, as the child is sure about the pin which runs into its fingers. And if this is so, the same

must be true of the simplicity of arrangement of events in the continuum.

Finally, if our mathematical minds mould nature to their own laws now, why did they not do so before the 20th century? It can hardly be supposed that the inherent qualities of the human mind underwent a revolutionary change when Planck published his famous paper in 1900. If the new knowledge expresses a property of the human mind rather than of nature, surely some learned metaphysician might have foreseen that a mathematical picture could ever be successful, and in so doing have saved science all the misguided effort of trying to draw pictures of other kinds.

The Road to Ultimate Reality

Yet the fact that the search for a physical reality underlying the mathematical description of nature has so far failed does not of course imply that the search must for ever fail. We must admit it as conceivable that the further advances of science may yet clothe our present mathematical abstractions in new dresses of physical reality, and possibly even of material substance.

Or it may be that no such substantial or material dress will ever be found, and that our knowledge of the universe will for ever remain similar in kind to our present knowledge, a knowledge of our perceptions expressed as a group of mathematical formulae stamped with the stamp of the pure mathematician — the kind of formulae which result from the operation of thought working within its own sphere. In such an event, there may or may not be a non-mental reality behind the form; if there is, it will be beyond our scientific capacity to imagine.

Our minds may have a selective action for simple mathematical laws and the laws that we so proudly proclaim as our discoveries about nature may in actual fact tell us nothing at all about the workings of nature — only something about ourselves, and the workings of our own minds.

All these possibilities are in the field, since all refer to the future and the unknown. Our positive knowledge of the road along which science is travelling is confined to that which lies behind it. We cannot say how much farther, if at all, the road extends in front, or what the far end of it is like; at best we can only guess.

Some may think that the most plausible conjecture is that the end of the road will be like what is at the half-way house, or perhaps more so. We have already described recent progress in physical science as resulting from a continuous emancipation from the purely human point of view. Our last impression of nature, before we began to take our human spectacles off, was of an ocean of mechanism surrounding us on all sides. As we gradually discard our spectacles, we see mechanical concepts continually giving place to mental. If from the nature of things we can never discard them entirely, we may yet conjecture that the effect of doing so would be the total disappearance of matter and mechanism, mind reigning supreme and alone.

Others may think it more likely that the pendulum will swing back in time.

Broadly speaking, the two conjectures are those of the idealist and realist — or, if we prefer, the mentalist and materialist— views of nature. So far the pendulum shows no signs of swinging back, and the law and order which we find in the universe are most easily described — and also, I think, most easily explained in the language of idealism. Thus, subject to the reservations already mentioned, we may say that present-day science is favourable to idealism. In brief, idealism has always maintained that, as the beginning of the road by which we explore nature is mental, the chances are that the end also will be mental. To this present-day science adds that, at the farthest point she has so far reached, much, and possibly all, that was not mental has disappeared, and nothing new has come in that is not mental. ●

संस्कृत पाठ-31

लृङ् (हेतुहेतुमद् भूतकाल), आशीर्लिङ् (आशीर्वचन वृत्ति), प्रेरणार्थी क्रियाओं के रूप, वाल्मीकि रामायण के कुछ श्लोक

31.1 क्रि. लृङ् लकार (हेतुहेतुमद् भूतकाल)। हेतुहेतुमद् भूतकाल का प्रयोग ऐसे कार्य की ओर संकेत करने के लिए होता है जिसे भूतकाल में होना था परन्तु उसके लिए किसी शर्त के पूरा न होने के कारण वह नहीं हो सका। यहाँ दोनों क्रियाएँ दो कार्यों को बताती हैं।

हेतुहेतुमद् भूतकाल का सामान्य भविष्यत् काल से वही संबंध है जो अनद्यतन भूतकाल का वर्तमान काल से है। यहाँ भी धातु से पूर्व **'अ'** का आगम होता है। इस काल में प्रयुक्त होने वाले अन्त्य प्रत्यय नीचे दिए गए हैं–

	परस्मैपद			**आत्मनेपद**		
	एकव.	द्विव.	बहुव.	एकव.	द्विव.	बहुव.
अन्य पु.	**स्यत्**	**स्यताम्**	**स्यन्**	**स्यत**	**स्येताम्**	**स्यन्त**
मध्यम पु.	**स्यः**	**स्यतम्**	**स्यत**	**स्यथाः**	**स्येथाम्**	**स्यध्वम्**
उत्तम पु.	**स्यम्**	**स्याव**	**स्याम**	**स्ये**	**स्यावहि**	**स्यामहि**

अन्य बातों जैसे, **'इ'** वर्ग की क्रियाओं के बीच में **'इ'** का आगम, में इसके रूप सामान्य भविष्यत् काल के नियमों का पालन करते हैं। **कृ** धातु के हेतुहेतुमद् भूतकाल में परस्मैपद और आत्मनेपद के रूप नीचे दिए गए हैंः

कृ (परस्मैपद)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
अन्य पु.	**अकरिष्यत्**	**अकरिष्यताम्**	**अकरिष्यन्**
मध्यम पु.	**अकरिष्यः**	**अकरिष्यतम्**	**अकरिष्यत**
उत्तम पु.	**अकरिष्यम्**	**अकरिष्याव**	**अकरिष्याम**

कृ (आत्मनेपद)

अन्य पु.	**अकरिष्यत**	**अकरिष्येताम्**	**अकरिष्यन्त**
मध्यम पु.	**अकरिष्यथाः**	**अकरिष्येथाम्**	**अकरिष्यध्वम्**
उत्तम पु.	**अकरिष्ये**	**अकरिष्यावहि**	**अकरिष्यामहि**

नीचे दिए वाक्यों में हेतुहेतुमद् भूतकाल का प्रयोग हुआ है।

यदि स परिश्रमम् अकरिष्यत् सोऽवश्यमेव परीक्षायाम् उत्तीर्णोऽभविष्यत्।

यदि उसने मेहनत की होती तो वह अवश्य परीक्षा में पास हो जाता।

यदि अहं व्यापारे अगमिष्यम् तर्हि इदानीं प्रभृति प्रभूतं धनम् अर्जिष्यम्।

यदि मैं व्यापार में गया होता तो मैंने अबतक बहुत अधिक धन कमा लिया होता।

यदि त्वं मम कथनं अपालयिष्य: तर्हि एतावत् दु:खं नाद्रक्ष्य:।

यदि तुमने मेरी सलाह मानी होती तो तुम्हें इतना दुःख न देखना पड़ता।

31.2 क्रि. आशीर्लिङ् (आशीर्वचन वृत्ति) आशीर्लिङ् का प्रयोग किसी के प्रति वक्ता की कामना या आशीर्वाद की अभिव्यक्ति के लिए होता है। हेतुहेतुमद् भूतकाल की तरह आशीर्लिङ् का प्रयोग भी बहुत कम होता है।

क. परस्मैपद में कर्मवाच्य के अंग के साथ अन्त्य प्रत्ययों के प्रयोग से आशीर्लिङ् के निम्नलिखित रूप बनते हैं:

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
अन्य पु.	**यात्**	**यास्ताम्**	**यासु:**
मध्यम पु.	**या:**	**यास्तम्**	**यास्त**
उत्तम पु.	**यासम्**	**यास्व**	**यास्म**

ख. आत्मनेपद में सेट् वर्ग की धातुओं में अन्त्य प्रत्ययों से पूर्व **ई** जोड़ा जाता है। इसके साथ ही कुछ अन्य परिवर्तन भी हो सकते हैं। आत्मनेपद के प्रत्यय हैं:-

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
अन्य पु.	**सीष्ट**	**सीयास्ताम्**	**सीरन्**
मध्यम पु.	**सीष्ठा:**	**सीयास्थाम्**	**सीध्वम्**
उत्तम पु.	**सीय**	**सीवहि**	**सीमहि**

आशीर्लिङ् में **भू** धातु के परस्मैपद के और **लभ्** धातु के आत्मनेपद के रूप नीचे दिए हैं—

	भू			**लभ्**		
	एकव.	द्विव.	बहु.	एक.	द्वि.	बहुव.
3	**भूयात्**	**भूयास्ताम्**	**भूयासु:**	**लप्सीष्ट**	**लप्सीयास्ताम्**	**लप्सीरन्**
2	**भूया:**	**भूयास्तम्**	**भूयास्त**	**लप्सीष्ठा:**	**लप्सीयाष्ठाम्**	**लप्सीध्वम्**
1	**भूयासम्**	**भूयास्व**	**भूयास्म**	**लप्सीय**	**लप्सीवहि**	**लप्सीमहि**

आशीर्वचन वृत्ति के कुछ वाक्य नीचे दिए गए हैं

शुभं भूयात् —(सबका) कल्याण हो।

सर्वे सुखमाप्नुयु: —सब सुख पाएँ।

न कोऽपि कमपि द्रुह्यात् —कोई भी किसी से द्वेष न करे।

31.3 क्रि. क्रिया का प्रेरणार्थी रूप: क्रियाओं का प्रेरणार्थी रूप यह प्रदर्शित करता है कि क्रिया का कर्ता किसी अन्य व्यक्ति से कार्य करवा रहा है। प्रेरणार्थी क्रियाओं के रूप **चुरादि गण** की धातुओं के समान बनते हैं। इनमें धातु के मध्यवर्ती ह्रस्व स्वर को गुण और अंतिम स्वर को वृद्धि होती है। अन्त्य प्रत्यय से पूर्व धातु के साथ **अय्** जोड़ा जाता है। इस प्रकार **श्रु** से **श्रावय** और **पत्** से **पातय** अंग बनते हैं। कुछ धातुओं में अन्य परिवर्तन भी होते हैं। नीचे कुछ प्रेरणार्थी क्रियाओं के वर्तमान काल, अन्य पुरुष, एकवचन के उदाहरण दिए हैं। आप देखेंगे कि कुछ प्रेरणार्थी क्रियाओं का अर्थ मूल अर्थ से कुछ बदल जाता है; जैसेः **अधीते** (अध्ययन करता है), **अध्यापयति** (पढ़ाता है) और **पश्यति** (देखता है), **दर्शयति** (दिखाता है)।

धातु	**क्रिया**	**अर्थ**	**प्रेरणार्थक**	**अर्थ**
अधि+इ	**अधीते**	पढ़ता है	**अध्यापयति**	पढ़ाता है
कम्प्	**कम्पते**	काँपता है	**कम्पयति**	कँपाता है
कृ	**करोति**	करता है	**कारयति**	करवाता है
कुप्	**कुप्यति**	गुस्सा होता है	**कोपयति**	गुस्सा दिलाता है
खाद्	**खादति**	खाता है	**खादयति**	खिलाता है
गम्	**गच्छति**	जाता है	**गमयति**	ले जाता है
ज्ञा	**जानाति**	जानता है	**ज्ञापयति**	सूचित करता है

जन्	**जायते**	पैदा होता है	**जनयति**	पैदा करता है
दृश्	**पश्यति**	देखता है	**दर्शयति**	दिखाता है
नम्	**नमति**	झुकता है	**नमयति**	झुकाता है
पत्	**पतति**	गिरता है	**पातयति**	गिराता है
पठ्	**पठति**	पढ़ता है	**पाठयति**	पढ़ाता है
बुध्	**बोधति**	समझता है	**बोधयति**	समझाता है
युज्	**युज्यते**	जुड़ता है	**योजयति**	जोड़ता है
रुह्	**रोहति**	उगता, चढ़ता है	**रोहयति**	उगाता, चढ़ाता है
वृध्	**वर्धते**	बढ़ता है	**वर्धयति**	बढ़ाता है
शम्	**शाम्यति**	शांत होता है	**शामयति**	शांत करता है
शिक्ष्	**शिक्षते**	सीखता है	**शिक्षयति**	सिखाता है
श्रु	**शृणोति**	सुनता है	**श्रावयति**	सुनाता है
स्था	**तिष्ठति**	बैठता है, रहता है	**स्थापयति**	रखता है, स्थापित करता है।
हन्	**हन्ति**	मारता है	**घातयति**	मरवाता है
हृष्	**हृष्यति**	प्रसन्न होता है	**हर्षयति**	प्रसन्न करता है

31.4 प. नीचे लिखे वाक्यों को बोलकर पढ़िए और हिन्दी में अनुवाद कीजिए।

1. अस्माकमध्यापकः प्रतिदिनमस्मान् गीतां पाठयति। 2. लोभः मनुष्यैः बहून् पापान् कारयति। 3. महान्ति कष्टान्यपि तं नमयितुं नाशक्नुवन्। 4. माता शिशुना भोजनं खादयति। 5. शान्तिः सुखं जनयति। 6. उद्योगः तस्य धनम् अवर्धयत्। 7. पण्डितः रामायणकथां जनान् श्रावयति। 8. मां वृथा न कोपय। 9. मंत्री राजानं राज्यस्य दशायाः विषये अज्ञापयत्। 10. ते फलानां वृक्षान् रोहयन्ति। 11. पुत्राणां सत्कार्याणि पितरौ हर्षयन्ति। 12. साधवः स्वमनांसि परमेश्वरे योजयन्ति।

31.5 प. हमने 29 वें पाठ में राम की कथा पढ़ी थी। हमने यह भी देखा था कि महर्षि वाल्मीकि ने अपने प्रसिद्ध रामायण काव्य में राम की कथा का वर्णन किया है। आइए, अब हम वाल्मीकिकृत रामायण के कुछ श्लोकों को पढ़ें। जिस दिन राम का अयोध्या में राज्याभिषेक होना था उसी दिन उन्हें चौदह वर्ष के वनवास का आदेश हो गया। जब राम वन के लिए प्रस्थान करने की तैयारी कर रहे थे तो उनकी पत्नी सीता ने आग्रह किया कि मैं भी आपके साथ वन चलूँगी। राम ने उसे वन न जाने के लिए समझाने का प्रयास किया। सीता फिर भी उनसे उसे वन में साथ ले चलने के लिए आग्रह करती रही जिसका वर्णन इन श्लोकों में है।

टिप्पणी:- श्लोकों में शब्दों का प्रयोग वाक्य के स्वाभाविक क्रम में नहीं होता। कभी-कभी श्लोक के शब्दों को स्वाभाविक गद्य में प्रयोग के क्रम से रखने की आवश्यकता होती है। इसे संस्कृत में *अन्वय* कहते हैं। अन्वय करते समय प्रायः संधि को अलग कर दिया जाता है।

क. भक्तां पवित्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्॥

अन्वयः- काकुत्स्थ, (त्वम्) भक्तां, पतिव्रतां, दीनां, सुखदुःखयोः समां, समानसुखदुःखिनीम् मां नेतुम् अर्हसि।

(**शब्दार्थः**—**काकुत्स्थ**—सूर्यवंशी राजाओं की उपाधि- संबोधन के रूप में; **अर्ह**—योग्य होना; **नेतुम् अर्हसि**—(तुम्हें मुझको अपने साथ) ले जाना चाहिए।)

हे सूर्यवंशियों में श्रेष्ठ राम, आपको मुझे (वन में अपने साथ) ले जाना चाहिए क्योंकि मैं आपकी भक्त पतिव्रता, असहाय पत्नी हूँ जो सुख-दुःख में आपकी सहभागी हूँ। (मुझे भी आपके समान ही) सुख-दुःख की अनुभूति होनी चाहिए।

ख. यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहम् आस्थास्ये मृत्युकारणात्॥

अन्वयः— यदि च एवं दुःखितां मां वनं नेतुं न इच्छसि, (तर्हि) अहम् मृत्युकारणात् विषम्, अग्निं, जलं वा आस्थास्ये।

(**शब्दार्थः –वाहम् = वा + अहम्; आस्थास्ये**–मैं (विष आदि) का आश्रय लूँगी, आ + स्था, लृट् i-i.)

यदि आप मुझ दुखिया को वन नहीं ले जाना चाहते तो मेरे पास इसके सिवाय कोई चारा नहीं कि या तो मैं विष खा लूँ, या आग में कूद कर मर जाऊँ अथवा जलसमाधि ले लूँ।

ग. तपो यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह।
न च मे भविता तत्र कश्चिदपि पथि श्रमः॥

अन्वयः–त्वया सह यदि अरण्यं वा स्वर्गो वा स्यात्, तत्र पथि में कश्चिद् अपि श्रमः न भविता।

(**शब्दार्थः– अरण्यं**– वन, **पथि–पथिन्** का 7-1, मार्ग में, **न भविता**–नहीं होगा।)

आपके साथ चाहे तप करना हो, वन में या स्वर्ग में रहना हो, वहाँ मुझे मार्ग में किसी भी प्रकार के श्रम का अनुभव नहीं होगा।

घ. पत्रं मूलं यत् त्वम् अल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम्॥

अन्वयः–त्वं स्वयम् आहृत्य अल्पं यदि वा बहु यत् पत्रं मूलं फलं (मह्यं) दास्यसि, तत् मे अमृतरस+उपमम् (भविष्यति)

(**शब्दार्थः– आहृत्य**– लाकर, आ + हृ + य)

पेड़ों के पत्तो, कंद मूल और फल आप जो भी थोड़ा या बहुत स्वयं लाकर देंगे वह मेरे लिए अमृतरस के समान होगा।

ङ. न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च॥

अन्वयः–आर्तवानि पुष्पाणि च फलानि च उपभुञ्जाना (अहम्) न मातुः, न पितुः न वेश्मनः स्मरिष्यामि।

(**शब्दार्थः– वेष्मन्** –घर या आवास, **वेश्म, वेश्मनी, वेश्मानि; स्मृ** धातु (याद करना) के साथ कभी-कभी कर्मकारक के बजाय संबंध कारक का प्रयोग होता है; **आर्तव**–वि., ऋतु का; यहाँ **ऋ** स्वर का वृद्धि रूप **आर्** है; **भुञ्जाना**– भुज् का वर्तमानकालिक कृदन्त रूप, **भुज्** –खाना, उपभोग करना, आनन्द लेना)

वहाँ विभिन्न ऋतुओं में मिलने वाले फूलों और फलों का आनदपूर्वक उपभोग करते हुए मैं अपने माता, पिता या घर, किसी को भी याद नहीं करूँगी।

च. न च तत्र गतः किञ्चिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको, न भविष्यामि दुर्भरा।

अन्वयः–न च तत्र गतः (त्वम्) किंचिद् विप्रियं द्रष्टुम् अर्हसि। न च मत्कृते ते शोकः, (अहं तुभ्यं) दुर्भरा न भविष्यामि।

(**शब्दार्थः–विप्रिय**–अरुचिकर; **मत्कृते**–मेरे लिए; **दुर्भरा**–कठिनाई से भार उठाने योग्य)

(मेरे) वन में जाने पर आपको (मेरे कारण से) कुछ भी अप्रिय अनुभव नहीं होगा। मेरे कारण आपको कोई दुःख नहीं होगा। मैं आपके लिए भारस्वरूप या दुःख का कारण नहीं बनूँगी।

छ. यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥

अन्वयः–यः त्वया सह सः स्वर्गः, यः त्वया विना (सः) निरयः। इति परां प्रीतिं जानन् राम त्वं मया सह गच्छ।

(**शब्दार्थः– निरयः**– नरक)

मेरे लिए आपका साथ स्वर्ग के समान है और आपके बिना (सब) नरक के समान है। इस प्रकार अपने प्रति मेरे असीम प्रेम को जानकर हे राम, मेरे साथ ही (वन) जाएँ।

ज. पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम्॥

अन्वयः–नाथ, त्वया उज्झितायाः, मम दुःखेन पश्चाद् अपि जीवितम् न एव अस्ति। तदा मरणम् एव वरम्।

(**शब्दार्थः– नैवास्ति**–न+एव+अस्ति (नहीं है) , **उज्झिता**–छोड़ी हुई, परित्यक्ता, **उज्झ्**–छोड़ना)

हे नाथ! आपके जाने के बाद दुःख के कारण आपके द्वारा मुझ परित्यक्ता के लिए जीना न जीने के समान है। ऐसी स्थिति में जीने से तो मरना अच्छा है।

रामः उवाचः–

झ. न देवि तव दु:खेन स्वर्गमप्यभिरोचये।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित् स्वयंभोरिव सर्वतः॥

अन्वयः–देवि, तव दुःखेन (अहं) स्वर्गम् अपि न अभिरोचये। स्वयंभोः इव, मे सर्वतः किंचिद् भयं न हि अस्ति।

(**शब्दार्थः**– **स्वयंभूः**– त्रिमूर्ति में प्रथम– सृष्टिकर्ता **ब्रह्मा** (त्रिमूर्ति में अन्य देव हैं **विष्णु**–धारणकर्ता और **शिव**–संहारकर्ता); **देवि**–देवी का 8-1, आदरणीया नारी के लिए, **स्वर्गम् अपि न अभिरोचये**–यह प्राचीन संस्कृत की वाक्य शैली है। बाद की संस्कृत में इसका रूप होगा–**(मह्यं) स्वर्गः अपि न अभिरोचते।**)

राम ने कहाः–

हे देवी (सीते), मेरे साथ रहकर तुम्हारे दुःखी होने की कल्पना से तो मुझे स्वर्ग की भी चाह नहीं है। ब्रह्मा के समान, मुझे कहीं से भी किसी तरह का डर नहीं। (तुम यह मत समझो कि मैं तुम्हें वन में साथ ले जाने से इसलिए डर रहा हूँ कि मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूँगा।)

ञ. तव सर्वम् अभिप्रायम् अविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये, शक्तिमानपि रक्षणे॥

अन्वयः–शुभानने (सीते) तव सर्वम् अभिप्रायम् अविज्ञाय। अरण्ये वासं न रोचये। रक्षणे शक्तिमान् अपि।

हे सुमुखी सीते! तुम्हारे वास्तविक अभिप्राय को जाने बिना (मैंने कहा था कि) वन में तुम्हारा रहना मुझे पसंद नहीं है, हालाँकि मैं तुम्हारी रक्षा करने में पूरी तरह समर्थ हूँ।

ट. सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमति शोभनम्॥

अन्वयः–सीते, त्वं मम स्वस्य च कुलस्य सर्वथा सदृशम् अति शोभनं व्यवसायम् अतिक्रान्ता।

(**शब्दार्थः**–**व्यवसायः**– प्रयत्न, निश्चय; **अतिक्रान्ता**– आगे बढ़ी हो, चली हो।)

हे सीते, तुमने यह बहुत ही अच्छा निश्चय किया है जो मेरे और तुम्हारे- कुल की परम्परा के बिल्कुल अनुकूल ही है।

ठ. आरभस्व गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते॥

अन्वयः– गुरुश्रोणि, वनवासक्षमाः क्रियाः आरभस्व। सीते, त्वद् ऋते इदानीं मम स्वर्गः अपि न रोचते॥

(**शब्दार्थः**– **गुरुश्रोणि**– भारी कमर वाली (यह सीता के संतुलित शारीरिक गठन की ओर संकेत है) **श्रोणिः/ श्रोणी**–कमर, नितम्ब, कूल्हा; क्षम–वि. समर्थ, **योग्य वनवासक्षम**–वन में रहने के लिए आवश्यक, **त्वद् ऋते**– तुम्हारे बिना; मम यहाँ इसका प्रयोग मह्यम् के लिए हुआ है।)

हे सुन्दरी सीते! तुम वन में रहने के लिए आवश्यक सामान आदि की तैयारी आरंभ कर दो। अब तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगता।

अभ्यास का उत्तर

31.4 अ. 1. हमारे अध्यापक हमें रोज गीता पढ़ाते हैं। 2. लालच मनुष्यों से बहुत-से पाप कराता है। 3. बड़े.बड़े कष्ट भी उसे झुका नहीं सके। 4. माता बच्चे को खाना खिला रही है। 5. शांति से सुख मिलता है। 6. परिश्रम ने उसका धन बढ़ा दिया। 7. पंडित जी लोगों को रामायण की कथा सुना रहे हैं। 8. मुझे व्यर्थ ही गुस्सा न दिलाओ। 9. मंत्री ने राजा को राज्य की दशा के बारे में बताया। 10. वे फलों के पेड़ उगा रहे हैं। 11. संतान के अच्छे कामों से माता-पिता को खुशी होती है। 12. सन्त लोग अपने मन को परमेश्वर में लगाते हैं।

प्रश्न-चर्चा

वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः

(चर्चा करते रहने से ज्ञान प्राप्त होता है।)

प्रश्न—आज जो समाज की स्थिति है उसमें हर व्यक्ति अपने को असहाय अनुभव कर रहा है। क्या आपको लगता है कि अकेला व्यक्ति कुछ कर सकता है?

टिप्पणी—हर व्यक्ति हर समय अकेला ही होता है। जब हम अपने आपको और लोगों से घिरा हुआ पाते हैं तब भी हम अकेले ही होते हैं। जो लोग एक साथ कोई नारा लगा रहे हैं उनमें हर एक अपने अंदर की अनुभूति से वैसा कर रहा है। कभी-कभी, जैसे किसी बड़े आंदोलन के समय या किसी क्षेत्र में कई लोगों के मिलकर काम करने के समय हमें लगता अवश्य है कि वे सब एक साथ हैं, पर अंदर से सब अकेले हैं। जब किसी खेल को देखते हुए हज़ारों लोग एक साथ चिल्ला रहे होते हैं तो भी उनमें से हर एक अकेले ही अपनी आवाज़ लगा रहा होता है। उनके समवेत स्वर को सुनकर हमें वहाँ समूह के एकसाथ होने का आभास अवश्य होता है। सैनिकों को प्रशिक्षण देकर उन्हें एक साथ एक जैसे काम करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है पर उनमें से प्रत्येक अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर काम करता है। यह अवश्य है कि प्रशिक्षण के दौरान और युद्ध के समय उसकी अनुभूतियाँ अपने साथियों की अनुभूतियों से मेल खाती हैं, पर अंदर से वह उस समय भी व्यक्ति के रूप में अकेला है। यदि युद्ध के समय कुछ सैनिकों को अपनी मृत्यु निकट दिख रही हो तो उनमें से हर एक अपने-अपने प्रिय जनों को याद करेगा। यह सर्वथा स्वाभाविक है। किसी के भी जीवन में व्यक्ति एक स्थायी सत्य है, समूह एक अस्थायी प्रतीति है।

प्रश्न—पर यदि हमें समाज में परिवर्तन लाना हो तो उसके लिए किसी संगठन का तो निर्माण करना होगा।

टिप्पणी—अवश्य ऐसा करना आवश्यक हो सकता है। पर यदि संगठन को किन्हीं विचारों पर आधारित करना हो तो कुछ व्यक्तियों को समूह से अलग होकर अपने अंदर जाकर गहर चिंतन करना होगा। समूह में चिंतन नहीं होता, भीड़ में तो कभी नहीं। समाज में जब भी कुछ उपयोगी कार्य हुआ है तो उसका प्रारंभ हमेशा किसी एक व्यक्ति के विचारों से ही हुआ है। समूह में कभी भी नये विचार पैदा नहीं होते।

वेदों और उपनिषदों के ऋषि समूह में बैठकर चिंतन नहीं करते थे, इसीलिए वे जीवन के गहरे सत्यों को खोज पाए। बुद्ध ने प्रारंभ में अकेले साधना की तब अपने अंदर सत्य को पाया। बाद में उनके नाम पर संघ अवश्य बने पर **संघं शरणं गच्छामि** कहते ही व्यक्ति अपने आपको समूह के हवाले कर देता है। तब बुद्ध के अनुयायियों को लिए वही सत्य होता है जो उनके अनुसार बुद्ध कह गए हैं। फिर शब्द प्रधान हो जाते हैं, उनके पीछे विद्यमान अनुभूति और विचार गौण।

प्रश्न—पर अन्य लोगों के साथ में चर्चा करने से सहायता तो मिलती ही है। आप ही इस प्रश्न-चर्चा के प्रसंग में प्राचीन उक्ति **वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः** की ओर ध्यान दिलाते हैं।

टिप्पणी—अवश्य ही औरों के साथ चर्चा करने से अपने विचारों को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है, पर यह तभी संभव है जब सामूहिक चर्चा में भाग लेनेवाले व्यक्ति पहले से ही कुछ मान्यताओं पर आग्रही होकर चर्चा न करें। आग्रह के साथ की गई चर्चा उपदेश हो सकती है, विचार-मंथन नहीं।

प्रश्न—पर यदि सब लोग अकेल-अकेले रहकर विचार करते रहेंगे तो परिवर्तन किस प्रकार संभव होगा?

टिप्पणी— संसार के इतिहास के अधिकतर चिंतक, जिन्होंने व्यक्तिगत साधना के द्वारा अपने अंदर सत्य पाया है, औरों की भलाई के लिए समाज से जुड़े हैं। पर ऐसे व्यक्ति अपने चारों ओर भीड़ नहीं जुटाएँगे। जिस भी व्यक्ति के पास विचार-क्षमता है वह देख सकेगा कि भीड़

के बीच नारे लगाकर चुनाव जीते जा सकते हैं, समाज को बदला नहीं जा सकता।

प्रश्न—तो समाज को बदलने के लिए फिर आखिर क्या करना होगा? समाज को बदलने की आवश्यकता तो है ही।

टिप्पणी— समाज में परिवर्तन तो आवश्यक है। पर जैसेकि कृष्णमूर्ति बार-बार कहते हैं, समाज को बदलने का प्रयास करने से पहले व्यक्ति को बदलना होगा। आखिर समाज आप और मुझ जैसे व्यक्तियों का ही तो समूह है। यदि व्यक्ति नासमझ और स्वार्थी हैं तो उनका समूह भी नासमझ होगा। ऐसे व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों के अनुसार वर्गों में संगठित होकर संघर्ष और टकराहट को ही जन्म देंगे।

कृष्णमूर्ति के जीवन के ही उदाहरण को लें। चौदह वर्ष की अवस्था में थियोसॉफी के अनुयायियों ने उन्हें अपने मसीहा के रूप में अपना लिया। एनी बेसेंट के नेतृत्व में भारत, यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में उनके चारों ओर एक बहुत बड़ा संगठन खड़ा कर दिया गया। यदि कृष्णमूर्ति चाहते तो संसार में एक नये धर्म के बहुत प्रभावशाली और धनी धार्मिक नेता बन सकते थे। पर उन्हें लगने लगा था कि उनके अनुयायी नासमझ लोग हैं जो सच्चे अर्थों में ज्ञानप्राप्ति के लिए साधना करने के बजाय उनके अंधभक्त बनकर अपना उद्धार करना चाहते हैं। यदि वह संगठन बना रहता तो संसार में विद्यमान अन्य धार्मिक संगठनों के बीच वह एक और नया धर्म बन जाता। फिर अन्य धर्मों से उसकी टकराहट होती और धर्म के नाम पर चल रहे संघर्षों में एक और संघर्ष का कारण खड़ा हो जाता। चौंतीस वर्ष की अवस्था में कृष्णमूर्ति ने उस विशाल संगठन को, जिसके वे अध्यक्ष थे, भंग कर दिया। उस समय उन्होंने कहा, "सत्य एक पथहीन भूमि है। आप किसी मार्ग से उस तक नहीं पहुँच सकते। . . . मेरा एक ही उद्देश्य है—मनुष्य को पूर्ण रूप से स्वतंत्र करना।" उन्होंने अपना शेष सारा जीवन इसी उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया।

प्रश्न—क्या कृष्णमूर्ति के संदेश को वास्तव में लोग समझ सके?

टिप्पणी—उनके बहुत-से पुराने अनुयायियों ने उन्हें छोड़ दिया। पर कृष्णमूर्ति कभी किसी को अपना अनुयायी नहीं बनाना चाहते थे। उनका कहना था, "यदि तुम किसी व्यक्ति का अनुसरण करते हो तुम सत्य का अनुसरण नहीं कर रहे।" उन्होंने स्पष्ट निर्देश दिए कि कोई भी व्यक्ति उनका उत्तराधिकारी नहीं होगा। आज कृष्णमूर्ति फ़ाउंडेशन के नाम से जो संगठन हैं वे केवल उनके विचारों के आधार पर चर्चा-आयोजन, प्रकाशन आदि का काम करते हैं, उनके व्याख्याता और उत्तराधिकारी होने का दावा नहीं करते। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी और समाज की समस्याओं पर अपनी ओर से सोचने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। और ऐसा ही होना भी चाहिए।

प्रश्न—पर क्या कृष्णमूर्ति का कोई व्यापक प्रभाव संभव हो सका?

टिप्पणी—आज यूरोप और अमेरिका में 200 से अधिक शिक्षा संस्थाओं में उनकी शिक्षाओं का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। भारत, यूरोप, अमेरिका और कनाडा में अनेक विद्यालय उनकी शिक्षाओं के अनुसार शिक्षा देने का प्रयास कर रहे हैं।

प्रश्न—उनकी शिक्षा के केंद्रबिंदु क्या-क्या हैं?

टिप्पणी— संक्षेप में, बच्चों की शिक्षा की प्रक्रिया में प्रतिस्पर्धा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। हर बच्चा अपने अंदर अद्वितीय है और उसकी अद्वितीयता का सम्मान किया जाना चाहिए। बच्चों की राष्ट्रीयता और धर्म की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठने में सहायता करनी चाहिए। उनके अंदर सही अर्थ में धार्मिक भावना पैदा करनी चाहिए—एक ऐसे धर्म का भाव जो किसी व्यक्ति, धर्मग्रंथ, मान्यताओं और अनुष्ठानों आदि से ऊपर है। सभी विद्यार्थी विज्ञान और तकनीकी विद्याओं में कुशलता प्राप्त करें, समाज में रहकर समाज के लिए उपयोगी कार्य करें, पर यह जानें कि जीवन का उद्देश्य पैसा कमाने से कहीं अधिक बड़ा है।

प्रश्न—क्या इन बातों को बड़े पैमाने लागू किया जा सकता है? आप इस दिशा में क्या कर रहे हैं?

टिप्पणी—इस समय देश के सामने सबसे बड़ा संकट इस बात का है कि सभी लोग सोचते हैं कि जो स्थिति वर्तमान में है उसमें कुछ परिवर्तन नहीं किया जा सकता, इसलिए उसमें क्या कमियाँ है, और उन कमियों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है, इस पर विचार करने की ओर भी किसी का ध्यान नहीं है। यदि सब ऐसे ही चुप बैठे रहेंगे तो स्थिति और बिगड़ती ही जाएगी।

इस पत्रिका में हमने अपनी ओर से कुछ प्रयास प्रारंभ किया है। हम सबसे पहले शिक्षा पर ध्यान दे रहे हैं। हम चाहते हैं कि देश के सभी शिक्षित व्यक्ति शिक्षा के क्षेत्र में क्या हो रहा है इस पर ध्यान दें। शिक्षा के क्षेत्र में भाषा सबसे प्रमुख चीज़ है। उसपर ध्यान देना सबसे

अधिक आवश्यक है पर उसकी ही सबसे अधिक उपेक्षा हो रही है।

भाषा केवल शब्दों का व्याकरणसंगत शब्दसमूहमात्र नहीं है। भाषा समाज को जोड़नेवाली कड़ी है और वह हमारी संस्कृति की वाहिका है। कोई व्यक्ति और जनसमूह केवल अपनी भाषा में ही विचार कर सकता है। बच्चों पर छोटी अवस्था से विदेशी भाषा थोपे जाने पर उनका मानसिक विकास रुक जाता है और वे जीवन भर बौद्धिक बौनेपन में ही जीते हैं। यह बौनापन हमें अपने चारों ओर दिखाई दे रहा है– उन लोगों में भी जो अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं।

भाषा से ही मनुष्य के सच्चे स्वभाव या उसकी आध्यात्मिकता का प्रश्न जुड़ा है। मनुष्य का अनियंत्रित मन सदा बाहर की ओर भागता है। मनुष्य के जीवन का स्रोत उसके अंदर है। उस स्रोत को जाने बगैर मनुष्य एक अर्ध-चेतन अवस्था में जीता है जिसके कारण उसके अंदर तो अशान्ति रहती ही है, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समस्याओं को शांत मन से समझकर उन्हें सुलझा सकने की क्षमता भी उसमें नहीं रहती।

पश्चिम की बहिर्मुखी दृष्टि के कारण यह माना जाता रहा है कि मनुष्य की सभी समस्याओं को विश्लेषण और अनुसंधान के द्वारा समझा और सुलझाया जा सकता है। हमने इस पत्रिका में कई बार भाषा की प्रकृति और उसकी सीमा पर विचार किया है। हम कहते रहे हैं कि मनुष्य के आंतरिक जीवन का न तो उस प्रकार विश्लेषण हो सकता है और न उसपर अनुसंधान हो सकता है जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्रों में होता है। साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र आदि विषय तभी सार्थक रूप से समझे जा सकते हैं जब मनुष्य अपने आपको समझे क्योंकि इन तथा इन जैसे अन्य विषयों में स्वयं उसका जीवन परिलक्षित होता है। हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रक्रिया में या तो अधिकारियों के निर्णयों के सामने चुपचाप आत्मसमर्पण का भाव है या फिर शोर और नारेबाज़ी है। चिंतन का सर्वथा अभाव है।

प्रश्न–स्थिति अवश्य ही ऐसी है। पर उसे बदलने के लिए क्या किया जा सकता है?

टिप्पणी–सबसे पहले चर्चा प्रारंभ करनी होगी। इस अंक में हम दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रो. अपूर्वानंद से साक्षात्कार दे रहे हैं। कुछ अन्य प्राध्यापकों की तरह वे भी विश्वविद्यालयों में विद्यमान परिस्थितियों से असंतुष्ट हैं। उन्होंने कुछ विचार और सुझाव रखे हैं। उन सुझावों में सबसे प्रमुख है अध्यापक की स्वायत्तता। उनके विचार से साहित्य के शिक्षण में साहित्य पढ़ानेवाले अध्यापक का व्यक्तित्व समाहित और परिलक्षित होता है। प्रो. अपूर्वानंद की यह बात मानविकी और सामाजिक विज्ञान के सभी विषयों पर लागू होती है। शुद्ध विज्ञान के विषय निर्वैयक्तिक होते हैं। कक्षा में उनके प्रस्तुतीकरण में अध्यापक की शैली का स्थान अवश्य रहता है पर विषय के तथ्यों में उसका दखल नहीं होता।

इसके विपरीत मानविकी और सामाजिक विज्ञान के विषयों की व्याख्या में अध्यापक का व्यक्तित्व केंद्र में रहता है। किसी कविता का कथ्य वास्तव में क्या है, कोई ऐतिहासिक घटना क्यों हुई, बौद्ध धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है, महात्मा गाांधी के विचारों की आज क्या प्रासंगिकता है, इन या ऐसे अन्य विषयों की व्याख्या में अध्यापक की अपनी समझ और अपना चिंतन केंद्र में रहता है।

हमें जगत् और जीवन के अध्ययन और अध्यापन के मूलभूत अन्तर को समझना है और उसके आधार पर शिक्षा-प्रक्रिया का निर्धारण करना है। जीवन से सम्बन्धित विषयों को निर्जीव जगत् के विषयों की तरह पढ़ाकर हम सारी शिक्षा प्रक्रिया को दूषित कर रहे हैं।

इसलिए प्रो. अपूर्वानंद जिस स्वायत्तता का प्रश्न उठा रहे हैं वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, केवल साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, मानविकी के अन्य क्षेत्रों में भी। स्वायत्तता का अर्थ होगा कि पाठ्यक्रम के निर्माण, पाठ्यवस्तु के चयन, शिक्षण की प्रक्रिया और परीक्षा की विधि, इन सबमें अध्यापक केंद्र में हो, समूह के तौर पर नहीं, व्यक्ति के रूप में।

ऐसा लग सकता है कि इससे अराजकता आ जाएगी। माध्यमिक शिक्षाबोर्ड और विश्वविद्यालय अपना काम कैसे करेंगे, विशेषकर वे सामूहिक परीक्षा कैसे लेंगे?

पर वर्तमान व्यवस्था में हमारे बच्चे शिक्षित नहीं हो रहे। हमें कुछ न कुछ करना ही होगा। प्रो. अपूर्वानंद के सुझाव गंभीरता से ध्यान देने योग्य हैं। अध्यापकों को तंत्रचालित व्यक्ति बनाकर हम बहुत प्रयास करके भी बौद्धिक रूप से बौने व्यक्ति ही पैदा कर सकेंगे, चिंतनशील प्रबुद्ध व्यक्ति नहीं। शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक है और वह हम सभी को मिलकर करना है।

पत्रिका में इस चर्चा को हम आगे जारी रखेंगे। इस विषय में पाठकों के विचारों का स्वागत है।●

भारत-संधान पत्रिका के बारे में

यह पत्रिका जिसे आप देख रहे हैं, कोई सामान्य पत्रिका नहीं है। यह किसी राजनैतिक या धार्मिक संगठन के प्रश्रय से चलाई जानेवाली पत्रिका नहीं है। इसमें किसी भी वाद को लेकर किसी भी तरह की, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नारेबाज़ी नहीं होगी। वास्तव में हमारा प्रयास होगा कि हम अपने पाठकों को सभी प्रकार के वादों से ऊपर उठाकर उस सत्य तक पहुँचने में सहायता करें जो सभी वादों, यहाँ तक कि सभी शब्दों के परे है। भारत में साधना के द्वारा इस सत्य को खोजने की परंपरा रही है और हम उस परंपरा को एक बार फिर, पहले से विशाल और व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में, आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं।

भारत-संधान केवल सैद्धांतिक पत्रिका नहीं है। यदि शब्द, एक ओर अनुभूति और दूसरी ओर कर्म को प्रभावित नहीं करते तो उनका कोई मूल्य नहीं है। हम अपने सभी विचारों को इस दृष्टि से प्रस्तुत करेंगे कि भारतीय चिन्तन किस प्रकार हमारी वैयक्तिक, सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक, और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में हमारी सहायता कर सकता है, और इस संबंध में व्यावहारिक सुझाव देने का प्रयास करेंगे।

इस प्रयास में आपके सहयोग की प्रार्थना है।

भारत-संधान की मुद्रित प्रति का ग्राहक बनने के लिए

एक प्रति	20 रु.
वार्षिक (साधारण डाक से)	240 रु.
पुस्तकालयों के लिए वार्षिक	350 रु.
विद्यार्थियों के लिए वार्षिक	100 रु.
कूरियर से वार्षिक (एन.सी.आर. सहित उत्तरी भारत)	400 रु.
कूरियर से वार्षिक भारत में अन्यत्र	500 रु.
विदेश में वार्षिक, (हवाई डाक से)	40 अमेरिकी डालर

ऑनलाईन सदस्यता शुल्क जमा करने के लिए: Bharat Sandhaan, Current Account No.: 604520110000565, Bank of India, Saket Branch, New Delhi, IFSC: BKID0006045

राशि मनीआर्डर, बैंक ड्राफ्ट या चैक से 'भारत संधान' के नाम से भेजें। दिल्ली के बाहर के चैक के लिए 50 रु. अतिरिक्त जोड़ें साथ में निम्नलिखित जानकारी देने की कृपा करें: नाम, पता, पिनकोड, फोन न. व ई-मेल।

भारत-संधान, जे-56 साकेत, नई दिल्ली-110017. फोन 011-41764317

DL (S)-17/3432/2013-15
Regd. No. DELBIL/2013/48298

सृष्टि का अंतिम सत्य और हमारा जीवन

- भारतीय आध्यात्मिक खोज के अनुसार पूरे विश्व में अंतिम सत्य के रूप में एक ही चैतन्य है। उस सत्य को ईश्वर, परमात्मा, पुरुष, ब्रह्म, शिव आदि अनेक नाम दिए गए हैं। पर वास्तव में उस सत्य का कोई नाम नहीं है क्योंकि वह सब नामों के परे है। यह सत्य स्वयं अरूप होते हुए भी अपने आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है।
- उस सत्य की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। वेदों और उपनिषदों में हमें उस सत्य की झलक मिलती है। एक वेदमंत्र में कहा गया हैं– **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**– सत्य एक है, विद्वान लोग उसका वर्णन अनेक प्रकार से करते हैं।
- सत्य के बारे में बहस करने से सत्य को नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिए मनुष्य को अपने मन को शांत कर अपने अंदर उस सत्य का साक्षात् करना होगा।
- इस दृष्टि को लेकर भारत में साधना-पद्धति का विकास हुआ जिसमें योग प्रमुख है। योग का संबंध मुख्यतया मनुष्य के मन से है। योग के सबसे प्रमुख शिक्षक पतंजलि ने योग की परिभाषा करते हुए कहा है– योगः चित्तवृत्ति निरोधः – मन की हलचल का पूरी तरह शमन करना योग है। मन को पूरी तरह शांत करना ही योग का वास्तविक लक्ष्य है।
- हमारे जीवन का उद्देश्य सृष्टि के उस अंतिम सत्य को जानना और उसके अनुसार अपना जीवन बिताना होना चाहिए।
- जब मनुष्य का मन विचारों के स्तर से ऊपर उठकर पूरी तरह शांत हो जाता है तब वह पाता है कि वह तो ईश्वर का ही अंश है। हम कह सकते हैं हमारे अंदर सोचनेवाला अंश मनुष्य है, और उसके पीछे विचारों के ऊपर चेतना की शांत अवस्था ईश्वर है। इस प्रकार विश्व की अंतिम सत्ता हमारी भाषा और विचारों में प्रकट हो रही है।
- हमारे बाहर प्रतीत होनेवाला संसार केवल उन शब्दों और विचारों का खेल है जो हमारे मन में विभिन्न पदार्थों और प्राणियों के संबंध में उठते हैं। अंतिम सत्य इस नामरूप के जगत् के पीछे एक अरूप आधार के रूप में विद्यमान है।
- सभी मनुष्य अपने जीवन में शान्ति और सुख पाना चाहते हैं। ईश्वर को पाकर मनुष्य को ऐसा सुख मिल जाता है जिसे पाने के बाद कुछ और पाने को शेष नहीं रहता। यह मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है।
- इस जीवन में ईश्वर को पाना केवल सैद्धान्तिक बात नहीं है। वेदों और उपनिषदों में ऐसे अंश हैं जिन्हें पढ़कर साफ लगता है कि ऐसे कथन करनेवाले ऋषि अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर बोल रहे हैं। अभी पिछले दो सौ वर्षो में हीं रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि का उदाहरण हमारे सामने है। युवा विवेकानन्द ने एक बार अपने गुरु रामकृष्ण से प्रश्न किया था– क्या आपने ईश्वर को देखा है? रामकृष्ण का सीधा उत्तर था– “मैं ईश्वर को ऐसे ही प्रत्यक्ष देखता हूँ जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ।”
- हम सभी ईश्वर को पा सकते हैं। भारतीय परंपरा इसका आश्वासन देती है और मार्ग भी दिखाती है। मार्ग सीधा है– अपने मन को इतना शांत करना कि उसमें कोई विचार न उठे। भाषातीत चेतना ही ईश्वर है। इसे ईश्वर की परिभाषा कहा जा सकता है।
- ईश्वर के संबंध में, और इसलिए सृष्टि के अंतिम सत्य के विषय में, यह भारत की सबसे बड़ी खोज है। और यह खोज भारतीय चिंतन को संसार के अन्य सभी चिंतन से अलग करती है।

सम्पादक, स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रकः अनिल विद्यालंकार द्वारा
अरुण एण्ड राजीव प्रा.लि., 10 डीएसआईडीसी, स्कीम-II ओखला इंडस्ट्रियल एरिया फेज़-II, नई दिल्ली-110020 में मुद्रित।
एवं जे-56 साकेत, नई दिल्ली 110017 से प्रकाशित।